अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र

सर्वोदय जगत

वर्ष-41, अंक-21, 16-30 जून, 2018

18 जून : दादा धर्माधिकारी-जयंती : विनम्र स्मरण

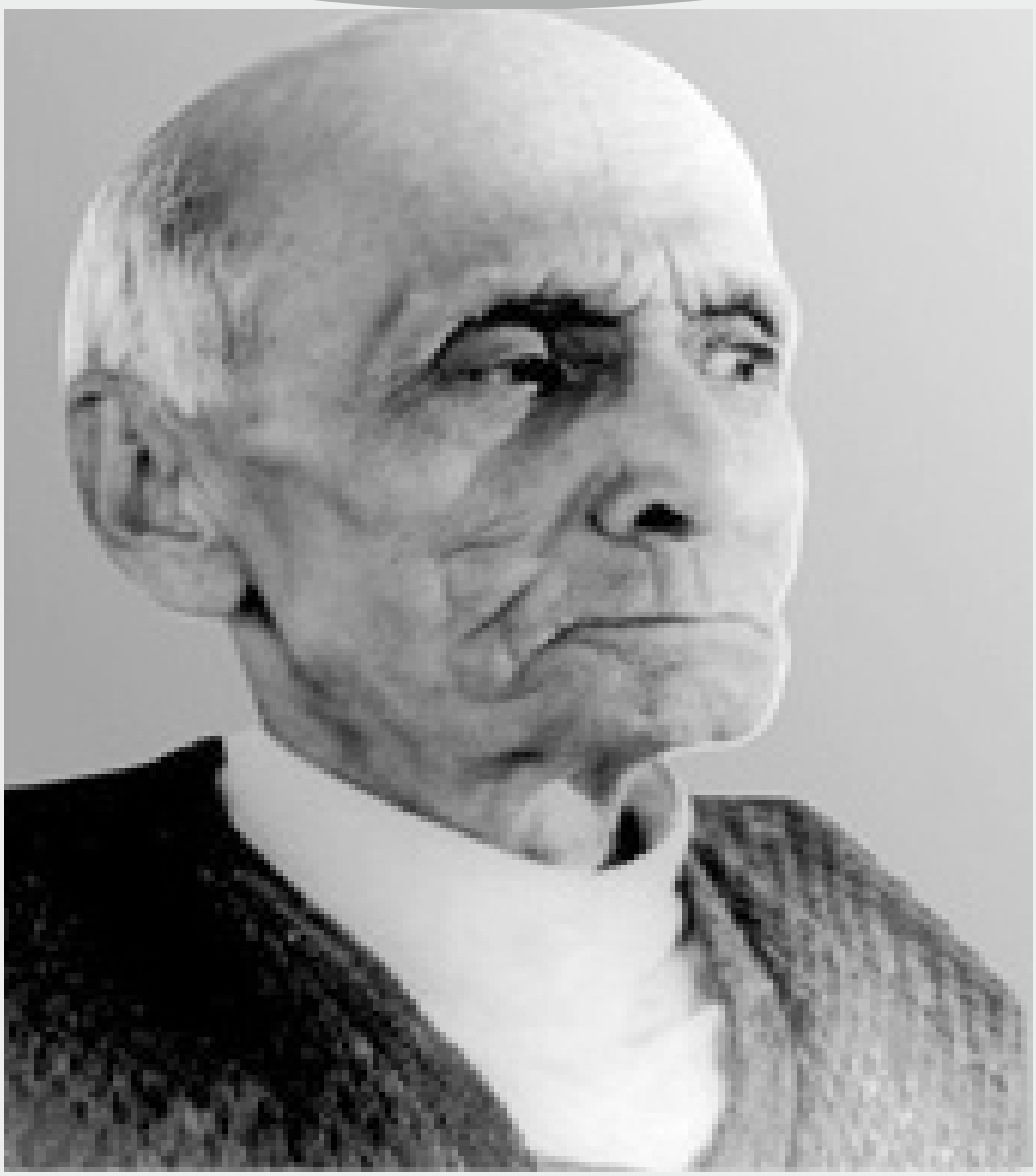

❑ पुरुषार्थ से ही मिलेगा स्वराज : *गांधी*

❑ संघ नहीं संग : *धीरेन्द्र मजूमदार*

❑ आगे का युग नेतृत्व का नहीं... : *विनोबा*

❑ छोटे मालिक की क्रांति : *दादा*

सर्व सेवा संघ
(अखिल भारत सर्वोदय मंडल)
द्वारा प्रकाशित
अहिंसक क्रान्ति का पाक्षिक मुख-पत्र
सर्वोदय जगत
सत्य, अहिंसा एवं सर्वोदय-सम्पूर्ण क्रांति का संदेश वाहक
वर्ष : 41, अंक : 21, 16-30 जून, 2018

संपादक
अशोक मोती
फोन : 0542-2440223

संपादक मंडल
डॉ. रामजी सिंह **भवानी शंकर 'कुसुम'**

संपादकीय कार्यालय
सर्व सेवा संघ, साधना केन्द्र
राजघाट, वाराणसी-221001 (उ.प्र.)
फोन : 0542-2440-385/223
ईमेल : sarvodayajagat@gmail.com
Website : sssprakashan.com

शुल्क

मूल्य	:	05 रुपये
वार्षिक	:	100 रुपये
आजीवन	:	1000 रुपये

खाता संख्या : 383502010004310
IFSC No. UBIN-0538353
Union Bank of India
Rajghat, Varanasi

इस अंक में...

1. अमीरी के टिले और गरीबी के गड्ढे... 2
2. पुरुषार्थ से ही मिलेगा स्वराज... 3
3. आगे का युग नेतृत्व का नहीं... 7
4. संघ नहीं संग... 10
5. छोटे मालिक की क्रांति... 13
6. जब हम चौदह तारीख को मिलेंगे... 15
7. उपन्यास - 'बा'... 18
8. संपूर्ण क्रांति दिवस : संगोष्ठी... 19
10. कविताएं... 20

संपादकीय

अमीरी के टीले और गरीबी के गड्ढे

अच्छे दिन, भ्रष्टाचार उन्मूलन के साथ-साथ विदेश में जमा काला धन वापस भारत लाकर प्रत्येक व्यक्ति के खाते में 15 लाख रुपये अनायास ही आ जाने के लुभावने सपने दिखाकर नरेन्द्र मोदी देश के प्रधानमंत्री बने। आगामी वर्ष 2019 में उनकी सरकार का कार्यकाल पूरा होने वाला है और पुनः चुनाव के दंगल में उतरने की उनकी और उनकी पार्टी की कवायद भी शुरू हो चुकी है।

ऐसे में देश की जनता उत्सुकता के साथ ही कई प्रश्नों के बीच भी घिर गयी है। जिन प्रश्नों की कसौटी पर वह आगामी चुनाव में अपना मतदान करेगी, वे प्रश्न गुजरे वक्त की कई गतिविधियों को खंगालेंगे।

याद करें गत वर्ष 22 जनवरी 2017 का दिन, जब स्वीटजरलैंड के दावोस शहर में राजनीतिक व आर्थिक जगत के दिग्गजों के साथ हमारे देश के प्रधानमंत्री ने भी अपनी एक बड़ी टीम के साथ शिरकत की थी। इसी दिन वर्ल्ड इकोनॉमिक फोरम ने एक रिपोर्ट जारी कर बताया कि भारत विश्व की उभरती अर्थव्यवस्था में विश्व के सूचकांक में 62वें स्थान पर ही अपनी स्थिति कायम कर सका है। यानी पिछले वर्ष के मुकाबले दो पायदान नीचे ही लुढ़का है, ऊपर नहीं उठ सका। भारत अपने पड़ोसी राष्ट्र यथा चीन और पाकिस्तान से भी काफी पीछे है। चीन 26वें और पाकिस्तान 47वें स्थान पर काबिज है।

यहां समझना यह भी जरूरी है कि वर्ल्ड इकोनॉमिक फोरम विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था का जिन मानकों पर मूल्यांकन करता है उसमें लोगों के रहन-सहन का स्तर, पर्यावरण की स्थिति और आने वाली पीढ़ियों पर ऋण का बोझ जैसे बिन्दुओं को शामिल करता है।

टांसपरेंसी इंटरनेशनल की एक रिपोर्ट के अनुसार मोदी सरकार के कार्यकाल में भ्रष्टाचार और गरीबी की जड़ें भी गहरी ही हुई बतायी गयी हैं।

विश्व बैंक ने भी भारत को विकासशील देशों की सूची से हटाकर बदहाल अर्थव्यवस्था वाले राष्ट्रों की लोअर मिडिल इनकम ग्रुप में रखा। इसका आधार मातृ मृत्यु दर, कैश कलेक्शन, स्टॉक मार्केट, बिजली उत्पादन, स्वच्छता और व्यापार शुरू करने में लगने वाले समय का आंकलन किया गया।

एक बात जरूर हुई है कि अमीरी के टिले ऊंचे हुए और गरीबी के गड्ढे काफी गहरे। एक सर्वे के अनुसार 2017 में हर दो दिन में एक व्यक्ति करोड़पति से अरबपति बना और इस तरह 101 नये अरबपति बन गये। विश्व की एक प्रसिद्ध संस्था ऑक्सफैम की रिपोर्ट के अनुसार देश के एक प्रतिशत लोगों के पास 73 प्रतिशत दौलत कैसे चली गयी, यह तथ्य किसी को भी आश्चर्य में डालने वाला है। यह तो और भी दुर्भाग्यपूर्ण है कि 2017 के आंकड़े के अनुसार सवा सौ करोड़ आबादी वाले देश में 67 करोड़ लोग अब भी गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन कर रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि अमीरी और गरीबी की खाईं बहुत गहरी हुई है।

ठीक ऐसी ही स्थिति में गांधी ने 1916 में हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में उसके स्थापना दिवस और अन्य कई अवसरों पर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा था—"महल गरीब को कुचलकर बनाये जाते हैं। भारत में उल्टा न्याय है। प्रतिवर्ष 60 करोड़ रुपये विदेश जाता है। यह रुपये हम किसानों से छीनकर भेजते हैं। उसमें से 5 प्रतिशत कमीशन मिलता है और उसी से महल बनते हैं। भारत के गांव बर्बाद होते जा रहे हैं और भारत गरीब होता जाता है।"

आजादी के बाद भी गांव, किसानी और किसानों की स्थिति संतोषजनक नहीं है, बल्कि उससे भी खराब स्थिति में पड़ा हुआ है। किसान अपनी फसल का सही कीमत न पाने तथा अपने कर्ज न चुका पाने की स्थिति में आत्महत्या करने पर मजबूर हो गये हैं।

दरअसल अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और

विश्वबैंक के जाल में फंसकर देश और देशवासी ने अपनी राजनीतिक और आर्थिक सम्प्रभुता खो दी है। देश अपने आर्थिक विकास का रास्ता सभी स्तरों पर जनता की भागीदारी से आर्थिक विकास की दिशा तय करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। विदेशी सहायता पर निर्भर रहकर कोई भी देश स्वतंत्र रूप से अपनी बुनियाद सुदृढ़ नहीं कर सकता। इस तरह ऐन-केन-प्रकारेण किसी भी दबाव में वस्तुओं का विकास तो हो सकता है लेकिन मनुष्य का नहीं, यह हमें याद रखना चाहिए। सच्चाई यह है कि सुधारों के नाम पर हमने अपने देश के विकास का एजेंडा विश्वबैंक को सौंप दिया है और गरीबी रेखा का निर्धारण और गरीबी कैसे दूर की जाय, इसमें भी उनका मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं। विकास के जैसे लुभावने मुद्दों के आड़ में केन्द्र और राज्य सरकारें देश के प्राकृतिक संसाधनों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों को हस्तांतरित करने पर बल देती रही हैं। देश की ऐसी सामाजिक, आर्थिक स्थिति में यह बहुत जरूरी है कि विकास को मानव विकास से जोड़ा जाय। मानव के विकास का मतलब यह सुनिश्चित करना है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, कौशल में मानव क्षमताओं तथा आनंद को बढ़ाने के लिए वास्तविक पूंजी निवेश हो और इससे पैदा हुई आर्थिक वृद्धि का न्यायपूर्ण ढंग से व्यापक रूप में वितरण भी हो।

इसलिए अच्छे दिन आयेंगे या विकास का सुख सभी तक पहुंचेगा, ऐसे सपनों और झूठे वायदों के प्रति सजग रहने के साथ ही प्राकृतिक क्षेत्र यथा भूमि, वन, खनिज, जल के दोहन के प्रति सजगता और जन दबाव बनाना जरूरी है। बुनियादी लोकतंत्र की इकाई पंचायत स्तर पर जनता को सक्रिय किया जाना भी जरूरी है ताकि किसी योजना में निर्णय लेने से लेकर निर्माण तक की हर प्रक्रिया में आम जन की सक्रिय सहभागिता हो सके।

हो सकता है इससे अमीरी के टिले की ऊंचाई और गरीबी के गड्ढे की गहराई थोड़ी कम हो सके। **–अशोक मोती**

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन समारोह में भाषण

पुरुषार्थ से ही मिलेगा स्वराज

❑ **गांधी**

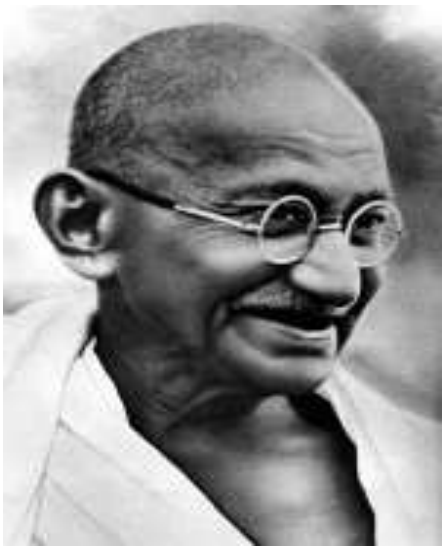

दोस्तो, यहां आते हुए मुझे रास्ते में बहुत देर लग गयी। मैं इसके लिए क्षमा याचना करता हूं। आप खुशी से माफ भी कर देंगे क्योंकि इस देरी के लिए न मैं जिम्मेदार हूं, न कोई और आदमी (हंसी); सच कहूं तो मैं पिंजरे का जानवर हूं और मेरी देख-रेख करने वाले लोग अत्यधिक ममता के कारण जीवन के एक महत्त्वपूर्ण पहलू अर्थात शुद्ध संयोग की बात को भूल जाते हैं। इस बार भी हम लोग, मैं, मेरे निरीक्षक और मुझे उठाकर चलने वालों को एक के बाद एक जिन दुर्घटनाओं का सामना करना पड़ा उसकी पूर्व कल्पना करके तो कोई इंतजाम नहीं किया गया था; इसलिए इतनी देरी हो गयी।

दोस्तो, अभी-अभी जो महिला भाषण देकर बैठी हैं उनकी अद्भुत वाक्शक्ति के प्रभाव में आकर आप लोग कृपया इस बात पर विश्वास न कर लें कि जो विश्वविद्यालय अभी तक पूरा बना और उठा भी नहीं है वह कोई परिपूर्ण संस्था है और अभी जो विद्यार्थी यहां आये तक नहीं हैं वे शिक्षा-संपादन करके यहां से एक महान साम्राज्य के नागरिक होकर निकल चुके हैं। मन पर ऐसी कोई छाप लेकर आप लोग यहां से न जायें और जिनके सामने आज मैं बोल रहा हूं वे विद्यार्थीगण तो एक क्षण के लिए भी इस बात को मन में जगह न दें कि जिस आध्यात्मिकता के लिए इस देश की ख्याति है और जिसमें उसका कोई सानी नहीं हैं, उस आध्यात्मिकता का संदेश बातें बघार कर दिया जा सकता है। अगर आपका ऐसा कुछ ख्याल हो तो मेहरबानी करके मेरी इस बात पर भरोसा कीजिए कि आपका वह ख्याल गलत है। मुझे आशा है कि किसी-न-किसी दिन भारत संसार को यह संदेशा देगा; किन्तु केवल वचनों के द्वारा वह संदेश कभी नहीं दिया जा सकेगा। मैं भाषणों और तकरीरों से ऊब गया हूं। अलबत्ता पिछले दो दिनों में यहां जो भाषण दिये गये, उन्हें मैं इस तरह की तकरीरों से अलग मानता हूं; क्योंकि वे जरूरी थे। फिर भी मैं यह कहने की धृष्टता कर रहा हूं कि हम भाषण देने की कला के लगभग शिखर पर जा पहुंचे हैं और अब आयोजनों को देख लेना और भाषणों को सुन लेना ही पर्याप्त नहीं माना जाना चाहिए; अब हमारे मनों में स्फुरण होना चाहिए और हाथ-पांव हिलने चाहिए। पिछले दो दिनों में हमें बताया गया कि अगर भारतीय जीवन की सादगी कायम रखनी है तो हमें अपने हाथ-पांव और मन की गति में सामंजस्य लाना आवश्यक है। वैसे यह भूमिका हुई। मैं कहना यह चाहता हूं कि मुझे आज इस पवित्र नगर में, इस महान विद्यापीठ के प्रांगण में, अपने ही देशवासियों से एक विदेशी भाषा में बोलना पड़ रहा है। यह बड़ी अप्रतिष्ठा और शर्म की बात है। पिछले दो दिनों में यहां जो भाषण दिये गये, यदि उनमें लोगों की परीक्षा ली जाये और मैं निरीक्षक होऊं तो निश्चित है कि

ज्यादातर लोग फेल हो जायें। क्यों? इसलिए कि इन व्याख्यानों ने उनके हृदय नहीं छुए। मैं गत दिसंबर में राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन में मौजूद था। वहां बहुत अधिक तादाद में लोग इकट्ठा हुए थे। आपको ताज्जुब होगा कि बंबई के वे तमाम श्रोता केवल उन भाषणों से प्रभावित हुए, जो हिन्दी में दिये गये थे। ध्यान दीजिए यह बंबई की बात है बनारस की नहीं, जहां सभी लोग हिन्दी बोलते हैं। बंबई प्रांत की भाषाओं *(तब मुंबई प्रांत में सिंध, कच्छ, काठियावाड़, सौराष्ट्र और महाराष्ट्र का बहुत-सा भाग आ जाता था। सिंधी, गुजराती, मराठी उन दिनों वहां की प्रायः समान रूप से महत्त्वपूर्ण भाषाएं थीं।)* और हिन्दी में उतना फर्क नहीं है जैसा अंग्रेजी और भारतीय भाषाओं में है; और इसलिए वहां के श्रोता हिन्दी में बोलने वाले की बात ज्यादा आत्मीय भाव से समझ सके। मुझे आशा है कि इस विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों को उनकी मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने का प्रबंध किया जायेगा। हमारी भाषा पर हमारा ही प्रतिबंध है और इसलिए यदि आप मुझसे यह कहें कि हमारी भाषाओं में उत्तम विचार अभिव्यक्त किये ही नहीं जा सकते, तब तो हमारा संसार से उठ जाना अच्छा है। क्या कोई व्यक्ति स्वप्न में भी यह सोच सकता है कि अंग्रेजी भविष्य में किसी भी दिन भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है? ('नहीं, नहीं' की आवाजें) फिर राष्ट्र के पांवों में यह बेड़ी किसलिए? जरा सोचकर देखिये कि अंग्रेजी भाषा में अंग्रेज बच्चों के साथ होड़ कराने में हमारे बच्चों पर कितना वजन पड़ता है। पूना के कुछ प्रोफेसरों से मेरी बात हुई। उन्होंने बताया कि चूंकि हर भारतीय विद्यार्थी को अंग्रेजी की मारफत ज्ञान-संपादन करना पड़ता है, इसलिए उसे अपनी जिन्दगी के बेश-कीमती बरसों में से कम-से-कम छह वर्ष अधिक जाया करने पड़ते हैं। हमारे स्कूलों और कॉलेजों से निकलने वाले विद्यार्थियों की संख्या में इस छह का गुणा कीजिए और फिर देखिये कि राष्ट्र के कितने हजार वर्ष बरबाद हो चुके हैं। हम पर आरोप लगाया जाता है कि इसमें पहल करने का माद्दा नहीं है। हो भी कैसे सकता है? यदि हमें एक विदेशी भाषा पर अधिकार पाने के लिए जीवन के अमूल्य वर्ष लगा देने पड़ें तो फिर और हो क्या सकता है? और तो और हम इसमें भी सफल नहीं हो पाते। श्री हिगिनबॉटम ने श्रोताओं को जितना प्रभावित किया, क्या कल और आज बोलने वालों में एक भी अन्य वक्ता उतना प्रभावित कर सका? यह उन बोलने वालों का कसूर नहीं था। सामग्री तो उनके भाषणों में भरपूर थी; लेकिन उनके भाषणों ने हमारा मन नहीं पकड़ा। कहा जाता है कि आखिरकार भारत के अंग्रेजीदां ही देश का नेतृत्व कर रहे हैं और वे ही राष्ट्र के लिए सब-कुछ कर रहे हैं। अगर इससे विपरीत बात होती तो वह और भयानक होती; क्योंकि हमें शिक्षा के नाम पर केवल अंग्रेजी शिक्षा ही तो मिलती है। शिक्षा का कुछ-न-कुछ परिणाम तो निकलता ही है। किन्तु मान लीजिए हमने पिछले पचास वर्षों में अपनी-अपनी भाषाओं के जरिये शिक्षा पायी होती; तो हम आज किस स्थिति में होते? तो आज भारत स्वतंत्र होता; तब हमारे पढ़े-लिखे लोग अपने ही देश में विदेशियों की तरह अजनबी न होते बल्कि देश के हृदय को छूने वाली वाणी बोलते; वे गरीब-से-गरीब लोगों के बीच काम करते और पचास वर्षों की उनकी उपलब्धि पूरे देश की विरासत होती। (तालियां) आज तो हमारी अर्धांगिनियां भी हमारे श्रेष्ठ विचारों की भागीदार नहीं हैं। प्रो. बसु *(सर जे. सी. बोस, एफ. आर. एस.; वनस्पति शास्त्री)* और प्रो. राय *(सर पी. सी. रॉय, रसायन शास्त्री)* तथा उनके शानदार आविष्कारों को ही लीजिए। क्या यह लज्जा की बात नहीं है कि जनता का उनसे कुछ लेना-देना नहीं है।

अब हम दूसरी बात लें।

कांग्रेस ने स्वराज्य के लिए एक प्रस्ताव पास किया है। यों तो मुझे विश्वास है कि अखिल भारतीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग अपना कर्तव्य पूरा करेंगी और कुछ-न-कुछ ठोस सुझावों के साथ सामने आयेंगी; किन्तु जहां तक मेरा सवाल है, मैं स्पष्ट रूप से यह बात स्वीकार करना चाहता हूं कि इस बात में उतनी दिलचस्पी नहीं है कि वे क्या-कुछ कर पाती हैं, जितनी इस बात में उतनी दिलचस्पी नहीं हैकि वे क्या-कुछ कर पाती हैं, जितनी इस बात में है कि विद्यार्थी-जगत क्या करता है या जनता क्या करती है। कोई भी कागजी कार्रवाई हमें स्वराज नहीं दे सकती। धुआंधार भाषण हमें स्वराज के योग्य नहीं बना सकते। वह तो हमारा अपना आचरण है जो हमें उसके योग्य बनायेगा। (तालियां) सवाल यह है कि हम अपने पर किस प्रकार राज्य करना चाहते हैं? मैं आज भाषण नहीं देना चाहता, श्रव्य रूप में सोचना चाहता हूं। यदि आज आपको ऐसा लगे कि मैं असंयत होकर बोल रहा हूं, तो कृपया मानिए कि कोई आदमी जोर-जोर से बोलता हुआ सोच रहा है और वही आप सुन पा रहे हैं। और यदि आपको ऐसा जान पड़े कि मैं शिष्टाचार की सीमा का उल्लंघन कर रहा हूं तो कृपया उस स्वच्छन्दता के लिए आप मुझे क्षमा करेंगे।

कल शाम मैं विश्वनाथ के दर्शन के लिए गया था। उन गलियों में चलते हुए, मेरे मन में ख्याल आया कि यदि कोई अजनबी एकाएक ऊपर से इस मंदिर पर उतर पड़े और यदि उसे हम हिन्दुओं के बारे में विचार करना पड़े तो क्या हमारे बारे में कोई छोटी राय बना लेना उसके लिए स्वाभाविक न होगा? क्या यह एक महान मंदिर हमारे अपने आचरण की ओर उंगली नहीं उठाता? मैं यह बात एक हिन्दू की तरह बड़े दर्द के साथ कह रहा हूं। क्या यह कोई ठीक बात है कि हमारे पवित्र मंदिर के आसपास की गलियां इतनी गंदी हों? उसके आसपास जो घर बने हुए हैं वे बे-सिलसिले और चाहे-जैसे हों। गलियां टेढ़ी-मेढ़ी और संकरी हों। अगर हमारे मंदिर भी कुसादगी और सफाई के नमूने न हों तो हमारा स्वराज कैसा होगा? चाहे खुशी से, चाहे लाचारी से अंग्रेजी का बोरिया-

बिस्तर बंधते ही क्या हमारे मंदिर पवित्रता, स्वच्छता और शांति के धाम बन जायेंगे?

मैं कांग्रेस के अध्यक्ष से इस बात में सहमत हूं कि स्वराज की बात सोचने के पहले हमें बड़ी मशक्कत करनी पड़ेगी। हमारे यहां हर शहर के दो हिस्से होते हैं; बस्ती खास और छावनी। बस्ती को अक्सर एक बदबूदार, गंदी कोठरी समझिये। यह ठीक है कि हम शहरों की जिन्दगी के आदी नहीं हैं। लेकिन जब शहरी जिन्दगी की हमें जरूरत ही है तो उसे हम अपने लापरवाह ग्राम्य-जीवन का प्रतिबिम्ब तो नहीं बना सकते। बंबई की जिन गलियों में भारतीय रहते हैं, वहां राहगीर को यह धुकधुकी लगी ही रहती है कि कहीं कोई ऊपर की मंजिल से उन पर पीक न छोड़ दे। यह बड़ी विचारणीय परिस्थिति है। मैं काफी रेल-यात्रा करता हूं। तीसरे दर्जे के यात्री की तकलीफों पर ध्यान जाता है। किन्तु इन सभी तकलीफों की जिम्मेदारी रेलवे के अधिकारियों के ऊपर नहीं मढ़ी जा सकती। यह जानते हुए भी कि डिब्बे का फर्श अकसर सोने के काम में बरता जाता है, हम उस पर जहां-तहां थूकते रहते हैं। हम जरा भी नहीं सोचते कि हमें वहां क्या फेंकना चाहिए, क्या नहीं; और नतीजा यह होता है कि सारा डिब्बा गंदगी का अवर्णनीय नमूना बन जाता है। जिन्हें कुछ ऊंचे दर्जे का माना जाता है, वे अपने से कम भाग्यशाली अपने भाइयों के साथ डांट-डपट का व्यवहार करते हैं। विद्यार्थी-वर्ग को भी मैंने ऐसा करते पाया है। वे भी गरीब सहयात्रियों के साथ कुछ अच्छा व्यवहार नहीं करते। वे अंग्रेजी बोल सकते हैं और नारफॉक जाकिटें पहने होते हैं और इसलिए वे अधिकार जताकर डिब्बे में घुस जाते हैं और बैठने की जगह ले लेते हैं। मैंने हर अंधेरे कोने को मशाल जलाकर देखा है; और चूंकि आपने मुझे बातचीत करने की यह सुविधा दी है, मैं अपना मन आपके सामने खोल रहा हूं। स्वराज की दिशा में बढ़ने के लिए हमें बिना शक ये सारी बातें सुधारनी चाहिए।

अब मैं आपको दूसरी जगह ले चलता हूं। जिन महाराजा महोदय *(दरभंगा के सर रामेश्वर सिंह (1860-1929); इन्होंने विश्वविद्यालय की स्थापना में मालवीय जी की सहायता की थी।)* ने कल की हमारी बैठक की अध्यक्षता की थी, उन्होंने भारत की गरीबी की चर्चा की। दूसरे वक्ताओं ने भी इस बात पर बड़ा जोर दिया। किन्तु जिस शामियाने में वायसरॉय द्वारा शिलान्यास-समारोह हो रहा था, वहां हमने क्या देखा? एक ऐसा शानदार प्रदर्शन, जड़ाऊ गहनों की ऐसी प्रदर्शनी, जिसे देखकर पेरिस से आने वाले किसी जौहरी की आंखें भी चौंधिया जातीं। जब मैं गहनों से लदे हुए उन अमीर-उमरावों और भारत के लाखों गरीब आदमियों से मिलता हूं तो मुझे लगता है, मैं इन अमीरों से कहूं, ''जब तक आप अपने ये जेवरात नहीं उतार देते और उन्हें गरीबों की धरोहर मानकर नहीं चलते, तब तक भारत का कल्याण नहीं होगा। (हर्षध्वनि और तालियां) मुझे यकीन है कि सम्राट अथवा लॉर्ड हार्डिंग सम्राट के प्रति वास्तविक राजभक्ति दिखाने के लिए किसी का गहनों के संदूक उलटकर सिर से पांव तक सजकर आना जरूरी नहीं समझते। अगर आप चाहें तो मैं जान की बाजी लगाकर महाराज जॉर्ज पंचम का संदेशा आपको लाकर दे दूं कि वे यह नहीं चाहते। भाइयो, जब कभी मैं सुनता हूं कि कहीं, फिर वह ब्रिटिश भारत में हो, चाहे हमारे बड़े-बड़े राजाओं और नवाबों द्वारा शासित रजवाड़ों में, कोई बड़ा भवन उठाया जा रहा है तो मेरा मन दुखी हो जाता है और मैं सोचने लगता हूं, ''यह पैसा तो किसानों के पास से इकट्ठा किया गया पैसा है।'' हमारे 75 प्रतिशत से भी अधिक लोग किसान हैं; कल श्री हिगिनबॉटम ने अपनी प्रवाहमयी वाणी में कहा, ''ये ही वे लोग हैं जो एक के दो दाने करते हैं'' यदि हम इनके परिश्रम की सारी कमाई दूसरों को उठाकर ले जाने दें तो कैसे कहा जा सकता है कि स्वराज की कोई भी भावना हमारे मन में है। हमें आजादी किसान के बिना नहीं मिल सकती। आजादी वकील और डॉक्टर या संपन्न जमींदारों के वश की बात नहीं है।

अब अंत में, उस बात का थोड़ा-सा विवेचन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं, जिसने आज दो-तीन दिनों से हमारे मनों को उद्विग्न कर रखा है। श्रीमान वायसरॉय के यहां के रास्तों से निकलने के समय हम सब लोग बड़ी चिन्ता में थे। स्थान-स्थान पर खुफिया पुलिस के लोग नियत थे। हम दंग रह गये। हमारे मन में बार-बार यह प्रश्न उठता था कि हम लोगों के प्रति इतने अविश्वास का क्या करण है? इस प्रकार मरणांतक-दुःख भोगते हुए जीने की अपेक्षा क्या लॉर्ड हार्डिंग के लिए सचमुच ही मर जाना अधिक श्रेयस्कर नहीं है! परंतु एक बलशाली सम्राट के प्रतिनिधि इस प्रकार मर भी नहीं सकते। मृतक की भांति जीना ही वे शायद जरूरी समझते होंगे। पर दूसरा प्रश्न यह है कि खुफिया पुलिस का जुआ हमारे सिर पर लादने का क्या कारण है? हम क्रुद्ध होते हों, बड़बड़ाते हों, हाथ-पैर पटकते हों, या और जो चाहे - सो करते हों, पर फिर भी यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत में अराजक दल की उत्पत्ति का कारण उतावलेपन का नशा है। मैं खुद भी अराजक ही हूं, पर दूसरे वर्ग का। हमारे यहां अराजकों का एक वर्ग है, जिससे यदि मुझे मिलने का अवसर मिले तो मैं उनसे स्पष्ट कह दूंगा कि ''भाइयो! यदि भारत को अपने विजेताओं पर विजय प्राप्त करनी हो तो आपकी अराजकता के लिए यहां जगह नहीं है।'' यह भीरुता का लक्षण है। यदि आपका ईश्वर पर विश्वास हो और यदि आप उसका भय मानते हों तो फिर आपको किसी से डरने का कोई कारण नहीं है; फिर चाहे राजा-महाराजा हों, वाइसरॉय हों, खुफिया पुलिस हों अथवा स्वयं सम्राट हों। अराजकों के स्वदेश-प्रेम का मैं बड़ा आदर करता हूं। वे जो स्वदेश के लिए आनंदपूर्वक

मरने के लिए प्रस्तुत रहते हैं, उनकी मैं इज्जत करता हूं। पर मैं उनसे पूछता हूं कि क्या मृत्युदंड प्राप्त होता है उसे किसी भी प्रकार गौरवपूर्ण माना जा सकता है? मैं कहता हूं, 'नहीं'। कोई धर्मग्रंथ ऐसे उपाय का अवलंबन करने की अनुमति नहीं देता।

यदि मुझे इस बात का विश्वास हो जाये कि अंग्रेजों के रहते हुए इस देश का कदापि उद्धार न होगा—उन्हें यहां से निकाल ही देना चाहिए—तो उनसे अपना बोरिया-बिस्तर समेटकर यहां से चलते होने की प्रार्थना करने में, मैं कभी आगा-पीछा न करूंगा और मुझे विश्वास है कि अपनी दृढ़ धारणा के समर्थन में मरने को भी तैयार रहूंगा, ऐसा मरण ही मेरी सम्मति में प्रतिष्ठा का मरण है। बम फेंकने वाला गुप्त रूप से षड्यंत्र करता है। वह बाहर निकलने से डरता रहता है और पकड़े जाने पर अयोग्य और अतिरिक्त उत्साह का प्रायश्चित भोगता है। ये लोग कहते हैं कि यदि हम लोग ऐसी कार्रवाइयां न करते, यदि हमारे कुछ साथी बहुतों को बम का निशाना न बनाते तो बंग-भंग के संबंध में...। (इस स्थान पर श्रीमती बेसेंट ने गांधीजी से भाषण शीघ्र समाप्त करने के लिए कहा।) मि. लॉयंस की अध्यक्षता में बंगाल में भी मैंने यही बात कही थी। मेरा ख्याल है कि मैं जो कुछ कह रहा हूं, वह बिल्कुल ठीक है। मुझे अपना भाषण समाप्त करने को कहा जायेगा तो मैं बंद कर दूंगा। (अध्यक्ष को संबोधित कर) महाराज, मैं आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहा हूं। यदि आपकी समझ में मेरी इन बातों से देश और साम्राज्य को हानि पहुंच रही है तो मुझे अवश्य चुप हो जाना चाहिए। (कहिए, कहिए का शोर; अध्यक्ष ने गांधीजी से अपना मतलब साफ तौर पर बतलाने को कहा) मैं अपना मतलब स्पष्ट करता हूं। मैं सिर्फ (फिर गड़बड़) मित्रो, इस गड़बड़ से आप रुष्ट न हों। श्रीमती बेसेंट को मेरा चुप हो जाना उचित जान पड़ता है, इसका कारण यह है कि भारत पर उनका बहुत अधिक प्रेम है और वे समझती हैं कि युवकों के सामने इस प्रकार की स्पष्ट बातें कहकर मैं अनुचित काम कर रहा हूं। पर यदि ऐसा हो तो भी मेरा कहना है कि मुझे भारत को उस अविश्वास से मुक्त करना है, जो राजा और प्रजा, सभी के मन में उत्पन्न हो गया है। यदि अपने साध्य को प्राप्त करना हो तो परस्पर की प्रीति तथा विश्वास पर स्थापित साम्राज्य से ही हमारा काम चलेगा और अपने-अपने घरों में बैठे-बैठे, दायित्वहीन ढंग से, यही बातें कहने की अपेक्षा क्या इस विद्यालय के प्रांगण में खड़े होकर उन्हें खुले तौर पर कहना अधिक अच्छा नहीं है? मेरा तो ख्याल है, इन बातों को पूरी स्पष्टता से कहना ही अधिक अच्छी बात है। पहले भी मैंने ऐसा ही किया है और उसका परिणाम बड़ा ही उत्तम हुआ है। मैं यह भी जानता हूं कि आज ऐसी कोई बात नहीं है, जिसकी विद्यार्थियों में चर्चा न होती हो या जिसे वे न जानते हों। इसीलिए मैंने यह आत्मनिरीक्षण आरम्भ किया है। अपने देश का नाम मुझे बड़ा ही प्यारा है। इसी से मैंने आप लोगों के साथ विचार-विनिमय की इतनी चेष्टा की है और आप लोगों से मेरी नम्रतापूर्वक प्रार्थना है कि अराजकता को भारत में बिलकुल स्थान न मिलने दीजिए। राजकर्ताओं से आपको जो कुछ कहना हो उसे खुलकर साफ शब्दों में कह दीजिए, और यदि आपका कथन उन्हें बुरा लगे तो उसके परिणामस्वरूप जो कष्ट मिलें उन्हें भोगने के लिए तैयार रहिए। आप उन्हें गालियां न दीजिए। जिस सिविल-सर्विस पर निन्दा की बेहद बौछार की जाती है, एक बार उसके एक अधिकारी से मुझे वार्तालाप करने का अवसर मिला था। इन लोगों से मेरा बहुत हेलमेल नहीं है, तथापि उसकी बातचीत का ढंग प्रशंसनीय था। उन्होंने पूछा—क्या आपका भी ऐसा ही ख्याल है कि हम सभी सिविल-सर्विस वाले बुरे होते हैं और जिन लोगों पर शासन करने के लिए हम यहां आते हैं, उनपर हम केवल अत्याचार ही करना चाहते हैं? मैंने कहा—''नहीं, नहीं, मैं ऐसा नहीं मानता।'' इसपर उन्होंने कहा कि ''तो फिर जब कभी आपको मौका मिले, आप हम अभागे सिविल-सर्वेंटों के पक्ष में, लोगों के सामने दो शब्द कहने की कृपा करें।'' वे दो शब्द मैं यहां कहने वाला हूं। इंडियन सिविल-सर्विस के बहुत से लोग निःसंदेह उद्धत, अत्याचार-प्रिय और अविवेकी होते हैं। इसी तरह के और कितने ही विशेषण उन्हें दिये जा सकते हैं। यह सब कुछ मुझे स्वीकार है। यही नहीं, मैं यह भी मानता हूं कि कुछ वर्षों तक हमारे देश में रहकर वे और भी ओछी मनोवृत्ति के बन जाते हैं। पर इससे क्या सूचित होता है? यहां आने के पहले यदि वे सभ्य और सत्पुरुष थे, पर यहां आकर यदि वे नीति-भ्रष्ट हो गये तो क्या इसको हमारे ही चरित्र का प्रतिबिम्ब नहीं कहना चाहिए? (नहीं, नहीं) आप लोग खुद ही विचार करें कि एक मनुष्य, जो कल तक भला आदमी था, मेरे साथ रहने पर खराब हो जाये तो उसके इस अधःपतन के लिए कौन उत्तरदायी होगा? वह या मैं? भारत में आने पर खुशामद की जो हवा उन्हें चारों ओर से घेर लेती है, वही उनके नीतिच्युत होने का कारण है। ऐसी हालत में कोई भी व्यक्ति नीतिच्युत हो सकता है, कभी-कभी अपने दोष स्वीकार करना भी अच्छा होता है।

यदि किसी दिन हमें स्वराज मिलेगा तो वह अपने ही पुरुषार्थ से मिलेगा। वह दान के रूप में कदापि नहीं मिलने का। ब्रिटिश-साम्राज्य के इतिहास पर दृष्टिपात कीजिए। ब्रिटिश-साम्राज्य, चाहे जितना स्वातन्त्र्य-प्रेमी हो, फिर भी स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए, स्वयं उद्योग न करने वालों को, वह कभी स्वतंत्रता देने वाला नहीं है। आप चाहें तो बोअर-युद्ध से कुछ शिक्षा ले सकते हैं। कुछ ही वर्ष पहले, जो बोअर लोग साम्राज्य के शत्रु थे, वही अब उसके मित्र हैं।

(इस समय फिर गड़बड़ शुरू हुई और श्रीमती बेसेंट उठकर चल दीं। उनके साथ और भी कई बड़े-बड़े लोग उठकर चलते बने। और व्याख्यान का अंत यहां हो गया।) ❑

गतांक से आगे...

आगे का युग नेतृत्व का नहीं गणसेवकत्व का

❑ विनोबा

आजकल जो उठता है, वह अपना अखिल भारतीय संगठन करना चाहता है। फिर विभिन्न प्रांतों में उसकी दस-पांच प्रांतीय शाखाएं खोल दी जाती हैं। फिर दस की सौ जिला शाखाएं हो जाती हैं। लेकिन पत्थर के कितने भी टुकड़े किये जायें तो भी उसमें से आटा थोड़े ही मिलेगा? जहां शाखा खोलने का संगठन चलता है, वहां सेवा का नाम तक नहीं रहता।

अगर सर्वोदय समाज की स्थापना करनी हो तो खुद से ही आरंभ करना चाहिए। हममें अगर द्वेष या मत्सर हो तो हमें उसे दूर करना चाहिए। जिसके प्रति द्वेष-मत्सर हो, उसके पास जाकर उससे दोस्ती कर लेनी चाहिए। इस तरह सर्वोदय समाज का काम व्यक्तिगत तौर पर शुरू हो जाता है। फिर धीरे-धीरे दो-चार मित्र तैयार हो जाते हैं और आगे समूचा गांव तैयार हो जाता है। ऐसे दो-चार गांव मिल जाएं, तो काम बढ़ा सकते हैं। धीरे-धीरे सारा विश्व और सारा ब्रह्मांड भी संगठित हो सकता है। तभी वह संगठन मूल से, अंतःप्रेरणा से और स्वाभाविक रूप से हुआ समझा जायेगा।

यदि हम केवल विचार देने के बजाय संगठन करने बैठें तो हमारे संगठन में शरीक होने वाले ही हमारे रहेंगे। पर मुझे ऐसा नहीं चाहिए। जो खद्दर पहनता है और नहीं भी पहनता, जो शराब पीता और नहीं भी पीता, वे सभी मेरे हैं और मैं उनका हूं। उनके साथ एकरूप होना चाहता हूं। संगठन से यह संभव नहीं।

इसका यह अर्थ नहीं कि संस्था बनानी ही नहीं चाहिए। जरूरत पड़ने पर सर्वोदय समाज के लोग छोटी-सी संस्था बना सकते हैं। लेकिन ऐसी संस्था संगठन नहीं, बल्कि एक व्यवस्था भर होगी, जैसे किसी परिवार में होती है। वैसी संस्था में चार-छह कार्यकर्ता साथ रहकर काम कर सकते हैं। आपस में मिलकर काम करने के लिए किसी एक सूत्र की आवश्यकता पड़ती है, और वह सूत्र है—सत्य और अहिंसा।

संगठना अहिंसा की भी होती है। लेकिन उसका अपना एक ढंग है और वह ढंग इतना न्यारा है कि उसको संगठना नाम देना भी उचित नहीं होगा। अहिंसा की जो संगठना होती है उसमें यह खूबी होती है कि सलाहकार सलाह देते हैं, जिनको वह सलाह जंचती है, वे उस पर अमल करते हैं। और क्योंकि वह सलाह उनको जंचती है, इसलिए बहुत निष्ठापूर्वक वे उस पर चलते हैं। इस तरह यह एक उत्तम और मजबूत संगठना होती है। दूसरी संगठनाओं में यह होता है कि ऊपर से सलाह नहीं, आज्ञा आती है। उस आज्ञा का पालन अगर कोई करता है तो यह नहीं कह सकते कि पूर्ण श्रद्धा से वह करता है।

संगठन दो प्रकार के होते हैं। एक शक्ति से, अनुशासन लाद करके; और दूसरा प्रेम से। प्रेम से संगठन 'होते' हैं, शक्ति से संगठन 'किये जाते' हैं। अब सवाल यह है कि जैसे शक्ति सामूहिक तौर पर काम कर रही है, वैसे सामूहिक तौर पर प्रेम काम कर सकता है क्या? इसमें प्रेम की कसौटी है। अहिंसा में शिथिलता नहीं होगी। उसमें सहज-संगठन होगा। और वह 'किया' नहीं जायेगा, बल्कि 'होगा'; और इतना मजबूत होगा कि उस संगठन की बराबरी हिंसा नहीं कर सकेगी। हिंसा में संगठन लादा जाता है; अहिंसा में वह अनायास हो जाता है। इसलिए वह मजबूत बनता है।

किसी हुक्म के ताबेदार होकर नहीं, लेकिन हम हिल-मिलकर, एकत्र होकर बैठें, चर्चा करें और तब जो निर्णय हो, वह हमें आज्ञा से भी अधिक शिरोधार्य होना चाहिए। यह कैसे संभव है, इसका विचार करता हूं तो मुझे ईसा का वचन याद आता है—एंग्री विथ् दाइन एडवर्सरी क्विकली—'जिसका तेरे साथ मतभेद है, उसके साथ तू जल्दी-से-जल्दी सहमत हो जा।' इसमें सामने वाले के साथ जुड़ जाने की, मेल साधने की जो कुशलता है, वह अहिंसा में आनी चाहिए।

मुझे जो महत्त्व की बात लगती है, वह यह है कि आज व्यूहरचना और समूहशक्ति, ये जो प्रमुख शक्तिसाधन माने जाते हैं—उससे मैं सहमत नहीं हूं। अहिंसा इन दोनों पर निर्भर नहीं करती। वह तो आत्मशुद्धि पर निर्भर रहती है।

आप स्थानिक संस्थाएं खड़ी कर सकते हैं। लेकिन जहां अखिल भारतीय संस्था खड़ी करने की बात आती है, वहां अनुशासन आता है और फिर सारा मामला 'बोगस' हो जाता है। हम इससे मुक्त रहना चाहते हैं। जब व्यापक संस्था निकम्मी होती है तो उसका नाहक अभिमान ही पैदा होता है और काम नहीं होता। हर कोई अपना अलग-अलग पंथ बनाते हैं। यानी सारी दुनिया से अलग रहते हैं। अगर हम कोई खास संस्था बनाते तो आज हमें जो सहयोग मिल रहा है, वह न मिलता।

जब कोई अभिमानी संगठन पैदा होता है तो वह हिंसक शक्ति का आह्वान करता है। उसकी प्रतिध्वनि दूसरी ओर गूंज उठती है। इस प्रकार अगर दुनिया में अनेक हिंसक शक्तियां या अभिमानी संगठन पैदा होते हैं तो शक्ति का योग नहीं घटाव ही होता है। हिंसक और अभिमानी संगठन एक दूसरे का क्षय करते रहते हैं, एक दूसरे को पुष्ट नहीं करते। जो संगठन अभिमान पर खड़े होते हैं वे कुल

मिलाकर दुनिया की शक्ति का क्षय ही करते हैं, दुनिया को उन्नत नहीं करते।

बाबा कहता है कि व्यक्ति पर उसका विश्वास है, संगठन पर नहीं। कारण व्यक्ति चैतन्यमय है, संगठन नहीं। संस्थाओं की मर्यादा होती है। व्यक्ति में जो प्रेरक शक्ति होती है, वह संस्था में नहीं होती। हम कभी-कभी कहते हैं कि संस्थाओं को 'पावर हाउस' जैसा होना चाहिए। लेकिन 'करंट' ही नहीं होगा तो 'पावर हाउस' किस काम का? संस्थाओं में ऐसी शक्ति भरने का काम व्यक्ति कर सकता है। सूर्य कभी हमारे घर में नहीं रहता है। फिर भी अपनी किरणें हम सबके घरों के भीतर पैठाता है। ऐसे सूर्यवत् व्यक्ति संस्था के बाहर रहें और उसका मार्गदर्शन करें।

विधानबद्ध संस्थाएं विचारक्रांति का काम करेंगी, यह अपेक्षा ही गलत है। विचार क्रांति मनुष्यों द्वारा होती है। संस्थाओं में मनुष्य नहीं, 'मेम्बर' होते हैं। एक होता है चंदा देने वाला मेंबर। वह पैसा देकर छुट्टी पाता है। काम के साथ बंधा हुआ होता ही नहीं है। दूसरा होता है कार्यकारी मेंबर। वह चंदा देने वाले मेंबर बनाकर कृतकार्य होता है। तीसरा होता है कामकाजी मेंबर। वह दफ्तर संभालता है, पत्र लिखता है, पत्रांक निकालता है, ऊपर से आये हुए हुक्म का बंधा होता है। और हुक्म देने वाला होता है, पार्टी के अनुशासन का कार्यवाहक। विचार करने की जिम्मेवारी किसी की नहीं है। किसी को विचार करने की फुर्सत नहीं है और किसी को नये विचार की छूट भी नहीं है। ऐसे पक्के बंदोबस्त में विचारक्रांति की जो अपेक्षा करेगा, वह बहुत करके पढ़ा-लिखा आदमी होगा! इसलिए उसे समर्थ रामदास की भाषा में 'पढ़तमूर्ख' कहना चाहिए।

मैं निधि मुक्ति को बहुत ज्यादा महत्त्व नहीं देता। मुख्य बात हमारा तंत्र तोड़ना है। हमारा विश्वास है कि इस शरीर को, इस ढांचे को, तंत्र को कायम रखते तो काम तो जरूर होता; पर वह सीमित होता। वह अनंत-अपार न फैलता।

इसीलिए हमने उस तंत्र को तोड़ा। जैसे पौधे के आसपास बाड़ लगाते हैं, पर पौधा बढ़ने पर उसे निकाल देते हैं, वैसे ही हमने यह किया है। गांधी-विचार कोई एकांगी विचार तो नहीं, एक समग्र विचार है। इसके लिए अलग संगठन की कोई जरूरत नहीं।

संस्था और आंदोलन दोनों ही कल्पना विचार को मूर्त रूप देने के लिए की गयी है। फिर भी दोनों में एक मूलभूत फर्क है। आंदोलन अगर ठीक ढंग से चलाया जाये तो वह विचार को मूर्त रूप दे सकता है। संस्था विचार को मूर्त रूप देती है। दोनों का फर्क थोड़े में मैं इस तरह बतलाऊंगा : आंदोलन भी अगर ठीक ढंग से न चलाया जाये तो विचार को विकृत रूप दे सकता है। संस्था अच्छी तरह चलाये जाने पर भी केवल यम-प्रधान नहीं रह सकती; नियम प्रधान बन जाती है। इसलिए मूर्ति से नहीं बच सकती। मूर्ति बुरी ही होगी, ऐसी बात नहीं। अच्छी भी हो सकती है। परंतु अच्छा गृहस्थाश्रम भी जिस प्रकार संन्यास से ही कृतार्थ होता है, उसी प्रकार अच्छी मूर्ति-उपासना भी विसर्जन से ही पूर्ण होती है।

प्रयोजनवश स्थानिक संस्थाएं बनाने में मेरा विरोध नहीं है क्योंकि आवश्यकता पूर्ण होने पर उनका विसर्जन किया जा सकता है। जिसका विजर्सन कठिन मालूम होता है, उसका आवाहन करने की झंझट में नहीं पड़ना चाहिए।

ईश्वर और उसके कार्य के बीच अगर कोई संगठन खड़ा होता है तो कभी-कभी वह बाधक भी हो जाता है। मेरा अपना बुनियादी विचार है कि सद्विचार हवा में फैला देना अच्छा है। उसे जमीन में बोने से उसका वृक्ष बनता है। किन्तु उसके नीचे चंद लोग ही आकर बैठ सकते हैं; वह सीमित हो जाता है। इसके विपरीत जो विचार हवा में फैलता है, वह हरेक के हृदय को छूता है और कहीं-का-कहीं, दूर-दूर तक चला जाता है। इसके बिना शांतिमय क्रांति नहीं हो सकती।

अभी महाराष्ट्र की कुछ संस्थाओं के संचालक मुझसे मिले थे। उनसे चर्चा हुई। उसमें एक महत्त्व का सवाल यह उठा कि महाराष्ट्र में और पूरे देश में ही खादी, ग्रामोद्योग, नई तालीम, अस्पृश्यता-निवारण, महिला-सेवा आदि रचनात्मक कार्य कई सालों से चल रहे हैं और उन्हें अब सरकारी मदद भी मिलने लगी है। लोगों को उनसे कुछ लाभ भी मिला है। लेकिन वे कार्य प्राणवान नहीं लगते। ऐसा क्यों होता है और इसका उपाय क्या है?

इस संबंध में मेरा चिन्तन सतत् चलता रहता है। कई संस्थाएं मैंने देखी हैं। कई संस्थाओं का अनुभव मैंने लिया है। संस्थाओं का काम कैसे चलता है, इसका निरीक्षण करके मैं कुछ निश्चित विचार पर पहुंचा हूं। हमारी संस्थाएं प्राणवान क्यों नहीं दिखतीं, वे ज्यादा समय क्यों नहीं चलतीं, उनमें स्थैर्य क्यों नहीं रहता, इस बारे में मेरे विचार स्पष्ट हैं।

हम संस्था खड़ी करते हैं। वह हमारी आंखों के सामने ही निस्तेज हो जाती है। उसका जीवन-रस उन्हें क्यों नहीं मिलता रहता? इसके कारणों की खोजबीन करता हूं तो दिखता है : अंगुष्ठोदकमात्रेण शफरी फर्फरायते—अंगूठे जितने गहरे पानी में हम खेलते रहते हैं। हमारे दर्शन में गहराई नहीं रहती। इसलिए हमारा सार्वजनिक कार्य देखते-देखते घर-संसार जैसा बन जाता है। सार्वजनिक कार्य करने वाले गहराई से नहीं सोचते। दुखमूल खोजने की गहराई में नहीं जाते।

हमारी संस्थाओं का जीवन-रस शीघ्र ही सूख जाता है। इसका एक कारण यह है कि हम कर्मयोग में पड़े हैं। कर्मयोग में लाभ के साथ उसकी हानियां भी आती हैं। गो सेवा करनी है तो गायों के लिए खेत चाहिए, फिर उसके साथ चर्मालय भी चाहिए। यह होने से तेलघानी, ग्रामोद्योग, खादी आदि को भी हम खड़ा कर सकते हैं। उसके वास्ते 5-50 आदमियों की जरूरत होती है। इस तरह कर्म की अधिकता के कारण हमारा विचार और तत्त्वनिष्ठा कम पड़ती जाती है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, बुद्ध, महावीर आदि के अनुयायियों में जो कई दोष थे, वे हमने सुधारे जरूर हैं, परंतु वे लोग आत्मज्ञान की जिन गहराइयों तक जाते थे, वहां हमारी पहुंच नहीं है। इसीलिए आज हमारा काम ऊपर से भारी बन जाता है, परंतु उसका मुख्य तत्त्व गायब हो जाता है। मनुष्य चला जाता है तो केवल संस्था रहती है, जो निस्तेज बनती जाती है। परिणामतः हम बहुत ही ऊपर से देखने लग जाते हैं।

हम यह मान लेते हैं कि खुद के लिए हम परिग्रह न करें, लेकिन संस्थाओं के लिए कर सकते हैं। हिंसावादी भी एक व्यक्ति के लिए हिंसा करना उचित नहीं मानता, लेकिन समाज और राष्ट्र के लिए हिंसा करने में पाप भी नहीं समझता। हम भी संस्था के लिए परिग्रह क्षम्य मानते हैं।

बापूजी के जाने के बाद यह बात मेरे ध्यान में आयी कि आज तक हमारी संस्थाएं पैसे के आधार पर चलती रहीं, लेकिन वह जमाना गया कि संस्थाएं पैसे के आधार पर चलायी जायें। अब नया जमाना आया है। इसलिए जहां तक हो सके, वहां तक हमें अपनी इन संस्थाओं को पैसे से मुक्त रखना चाहिए। तभी नया चैतन्य आ सकेगा। तभी सारे गांव का उद्धार हो सकेगा। इसका परिणाम सरकार पर भी पड़ेगा।

मैं मानता हूं कि हमारी संस्थाएं नारायण-परायण होनी चाहिए। वैसे आज भी उनकी आजीविका लोगों के आश्रय पर ही निर्भर है। स्वराज्य के बाद कई संस्थाएं सरकार से मदद लेती हैं। सरकार की मदद हम दूसरे-तीसरे काम में भले ही लें, परंतु कार्यकर्ताओं की आजीविका का भार सरकार की मदद पर रहेगा तो उससे नारायण-परायणता नहीं आयेगी। संस्थाएं निधि पर, संचित निधि पर रहेंगी तो साक्षात् जनता रूप नारायण का आधार नहीं होगा। इसलिए दूसरे कामों में भले ही सरकार की या निधि की मदद लें, किन्तु कार्यकर्ताओं के भरण-पोषण का आधार उन पर नहीं रहेगा, तब अपनी संस्थाओं में प्राणतत्त्व दाखिल होगा।

कुछ थोड़ी संस्थाएं ऐसी हैं, जो आत्मनिर्भर हैं। कुछ संस्थाएं कुछ उद्योग करती हैं और उससे जो मिलता है, उस पर उसके कार्यकर्ता निर्भर रहते हैं। इस तरह जिनका आधार श्रम अथवा उद्योग पर रहता है, उनमें परावलंबन का अवगुण तो नहीं आता, परंतु मुझे यह भी गौण मालूम होता है। ऐसी संस्थाएं स्वावलंबी हों तो भी नारायणावलंबी नहीं होतीं। इनमें काम करने वाले आलसी नहीं होते, दिनभर काम करते हैं, परंतु वे अपने ही काम में मशगूल रहते हैं। जनता की परवाह करने की कोई जरूरत उन्हें महसूस नहीं होती है। इसलिए मैं चाहता हूं कि हमारे सेवक साक्षात् लोकसमिति पर ही अपना आधार रखें और नारायण पर ही उनका जीवन निर्भर रहे।

सरकार पर या निधि पर अवलंबन मैं पसंद नहीं करता। इन दोनों से स्वावलंबन का स्थान ऊंचा है, परंतु वह भी संकुचित विचार है। गीता कहती है कि जो अपने खुद के लिए रसोई बनाकर खाता है, वह पाप खाता है। इसका अर्थ मैं यह समझा हूं कि सेवक अपना सब कुछ समाज को समर्पण करे और समाज की तरफ से जो मिले, उसे प्रसाद समझकर ग्रहण करे। इस वृत्ति से कार्यकर्ता और संस्थाएं अपना काम चलायेंगी, तो उस कार्य में जान आयेगी।

यदि गांव की संस्थाएं अपने लिए खास सुविधाएं प्राप्त करें और गांव से अलग जैसी दिखने लगें, तो संन्यासियों की तरह समाज से बिल्कुल अलग, खतरे के सिग्नल जैसी ही दिखेंगी! सेवकों को लोकजीवन में एकदम घुल-मिल जाना चाहिए।

जिस तरह शरीर में आत्मा होती है, उसी तरह संस्थाओं में भी एक शरीर और एक आत्मतत्त्व हुआ करता है। जिन विचारों को लेकर कोई संस्था खड़ी होती है, वही उसका आत्मतत्त्व है। वह दिन-प्रतिदिन विकसित होते रहना चाहिए। यह ध्यान में रखने की बात है। शरीर और संस्था दोनों साधक भी हो सकते हैं, बाधक भी। उनको साधक बनाना अपनी कला है। संस्था का जो तंत्र है, वह उसकी देह है और उसका जो मूल मंत्र है, वह उसकी आत्मा है। तंत्र में अपना आग्रह नहीं रखना, मंत्र छोड़ना नहीं और मंत्र के मुताबिक काम करते जाना—नियमित, परिमित, सतत्।

हमारा काम है, समाज में एक विशिष्ट विचार प्रचलित करना, उसके अनुसार जीवन बनाना। इसलिए उसका मूल स्रोत अत्यंत निर्मल होना चाहिए, गांगोत्री में पानी अत्यंत निर्मल होता है। फिर आगे चलकर जो होना है, सो होने दो। व्यापक काम में आगे कुछ भी हो सकता है, परंतु मूल में स्रोत शुद्ध और स्वच्छ होना चाहिए। सर्व सेवा संघ मूल स्रोत है, यद्यपि वह एक व्यापक संस्था है। मूल स्रोत में हम अत्यंत निर्मल हों। उस दृष्टि से हम विधान कायम रखें और संकेत (परिपाटी) बदलें। या संकेत भी बदलें और विधान भी बदलें। दोनों बातें ठीक हैं। परंतु शासनमुक्त समाज की बात हम करते हैं तो फिर विधान ही उड़ जाता है। तिस पर यह भी होता है कि संस्था भी उड़ जाती है। फिर भी आज हम संस्था चलाते हैं, तो ऐसी चलायें कि दुनिया में संस्था के जो दोष माने जाते हैं, वे उसमें न रहें। दुनिया में संस्था के जो माने हुए दोष हैं, उनमें बहुमत और अल्पमत का भी दोष है। यह तो हममें होना ही चाहिए।

अंतिम हालत में तो वह नहीं ही होना चाहिए। परंतु हमने कहा था कि बीच के काल के लिए कई सीढ़ियां हो सकती हैं। हम अपनी सारी परिस्थिति देखकर ही सीढ़ियां तय करें। परंतु मूल में विचार यह है कि विधान और संकेत में हम फर्क ही क्यों करें? इस तरह फर्क करके एक परम आश्रय और एक साधारण आश्रय, ऐसा क्यों माना जाए? हम इच्छा करते हैं कि अधिक-से-अधिक एकमत से काम हो। फिर उसमें विधान और संकेत का भेद न हो।

बिलकुल वैदिक जमाने में भी भगवान का वर्णन किया—गणानां त्वा गणपतिं हवामहे—हे भगवान, तू गण-पति है और हमारा यह गण है। मतलब, हमारे गण में कोई मनुष्य गण-पति नहीं, भगवान गण-पति है। गायत्री मंत्र में भगवान से प्रार्थना की तो 'मेरी बुद्धि को प्रेरणा दें' नहीं कहा, 'हमारी बुद्धि को प्रेरणा दें' कहा। तो उस जमाने में गणसेवकत्व था। यानी उसका विचार था। फिर बुद्ध और महावीर ने गणसेवकत्व स्थापित किया। उसके बाद शैव और वैष्णवों ने कुल भारत में जो काम किया, वह नेतृत्व के आधार पर नहीं, गणसेवकत्व के आधार पर किया।

'गणसेवकत्व' का अर्थ कुछ लोग 'मास लीडरशिप' समझते हैं। कुछ लोग गण यानी जनता की सेवा का कर्तव्य-भावना से अपना अभिक्रम लेने की बात समझते हैं। कुछ लोग अधिकार-भावना तथा बदले की अपेक्षा से रहित सेवा करना आदि समझते हैं। अतः इसमें कुछ अधिक स्पष्टता की जरूरत है।

इसमें लीडरशिप है ही नहीं। हम सारे सह-विचारक हैं। यह जरूरी नहीं कि आपका और मेरा विचार एक ही हो। हम सह-विचारक हैं, बैठकर विचार करते हैं, अपनी राय भी जाहिर करते हैं, सर्वानुमति देखते हैं और उसके अनुकूल हो जाते हैं। फिर काम में पूरा सहयोग देते हैं। एक बार पहले अपना मत जाहिर कर दिया था, अब काम में कोई विरोध नहीं करते, यह है गणसेवकत्व। इसकी उत्तम मिसाल है, अपना शरीर। उसमें अन्योन्य सहयोग चलता है। एक दूसरे के लिए त्याग की भावना होती है। महत्त्व सबका है, लेकिन फिर भी सब जानते हैं कि अपना बचाव किसमें है। इसलिए सिर पर प्रहार होता है तो हाथ अपने-आप सामने आ जाता है। वह जानता है कि शरीर को मेरी आवश्यकता सिर की अपेक्षा कम है। इसलिए वह सामने आता है। अगर यह न जाना जाए तो विवेक ही नहीं है, ऐसा कहा जायेगा। गणसेवकत्व में भी यह बात रहेगी। अपनी-अपनी शक्ति क्या है, इसकी समझ सबको है, अहंकार नहीं है। पहचान है कि मेरा क्या स्थान है, नम्रता है; हर कोई जानता है कि मेरा क्या उपयोग है। यह है गणसेवकत्व का लक्षण। गणसेवकत्व में मुख्य आधार प्रेम का रहेगा। और इसलिए नेतृत्व की अपेक्षा बहुत ज्यादा शक्ति इसमें आयेगी। और वह भारत की अपनी शक्ति है।

हर आंदोलन में नेताओं की आवश्यकता रहती है, लेकिन अहिंसक आंदोलन केवल नेताओं पर निर्भर नहीं रह सकता, न ही रहना चाहिए। न वह संस्थाओं पर निर्भर रहना चाहिए। विचार के नेतृत्व में परस्पर अनुराग से संलग्न कार्यकर्ता मुक्तभाव से सतत काम करते चले जाएं तो उससे अहिंसक क्रांति का दर्शन हो सकता है। अहिंसक क्रांति के काम में नेतृत्व या प्रभुत्व नहीं, गणसेवकत्व ही हो सकता है।

आगे का युग नेतृत्व का नहीं, गणसेवकत्व का युग है। सारे समाज का चित्त ऊंचा उठाना होगा। भले वह उतना ऊपर न उठे, जितना किसी व्यक्ति का उठ सकता है; फिर भी उसकी शक्ति ज्यादा होगी। ❑

संघ नहीं संग

❑ **धीरेन्द्र मजूमदार**

धीरेनदा सन् 1920 में गांधीजी के असहयोग आंदोलन में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय छोड़कर आये थे। समय की कसौटी पर खरे उतरे गांधी-अनुयायियों में उनका एक ऊंचा स्थान था। उन्होंने बड़ी संस्थाएं भी खड़ी कीं पर बाद में उन्हें 'गुड़िया घर' कह कर छोड़ दिया था। सर्वोदय में वे बस एक 'मिस्त्री' की तरह प्रसिद्ध हुए। लेकिन इस शास्त्री की बातें हमें दूर तक ले जाती हैं। –सं.

मैं हमेशा कहता रहता हूं कि बनी-बनायी संस्था द्वारा क्रांति नहीं हो सकती है। हां क्रांति का उद्घोष जरूर हो सकता है वहां से। क्रांति तभी हो सकती है, जब जिसे क्रांति चाहिए, वह उसकी पहल करे। यह सत्य है कि हमने कुछ लोगों के साथ स्नेह-संबंध स्थापित किया है और उनसे अपने काम में सहकार लिया है। लेकिन मैं उस सहकार को क्रांति की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं देता हूं। हमारे काम की तूफानी रफ्तार के कारण उनका सहकार भी देखने में उत्साहवर्धक रहा है। लेकिन क्रांति के लिए इस स्थिति को पूंजी के रूप में इस्तेमाल करना कठिन है।

अभी तक हम लोगों ने जो काम किया है, वह केवल क्रांति के उद्घोष के लिए ढोल-पिटाई का काम है। हम लोग जिसे निष्पत्ति मानते हैं, वह उसी तरह से भ्रम है, जिस तरह कुआं खोदते समय पांच-छह फुट के बाद पानी देखकर लोग समझने लगें कि हम कुएं की सतह पर पहुंच गये हैं! अगर हम कुछ निष्पत्ति देखना चाहते हैं, तो हम सबको इस काम में अपनी हड्डी गलानी होगी।

सन् 1955 में विनोबाजी की उड़ीसा-यात्रा के दरम्यान हमारा आंदोलन भूदान से ग्रामदान की ओर मुड़ने लगा था। उसी समय से विनोबाजी के दिमाग में क्रांति की प्रक्रिया के बारे में चिन्तन चलने लगा था। और अगले साल कांचीपुरम् सम्मेलन के अवसर पर हम लोगों से उन्होंने यह कहा कि आप सब क्यों न क्रांति का एक नाटक कर डालें? उस नाटक के स्वरूप के बारे में यह संकेत किया कि हम सर्व सेवा संघ की संस्था को समाप्त कर दें। कार्यकर्ता अपने क्षेत्र में फैलें और जन-जन में क्रांति को फैलाने का प्रयास करें। आगे चलकर सर्व सेवा संघ ने अपने निवेदन में देश की कोटि-कोटि जनता से अपील की कि वह इस क्रांति को अपने हाथों में उठा ले ताकि देश की संकटपूर्ण समस्याओं का समाधान हो सके।

फिर विनोबाजी की प्रेरणा से सर्व सेवा संघ ने तंत्रमुक्ति और निधिमुक्ति तथा सर्वजनाधार का प्रस्ताव किया। लेकिन दुर्भाग्य से हम लोग इस विचार के अमल के प्रयास में असफल हुए। इतना ही नहीं, उसका प्रयास भी नहीं किया और न मार्ग खोजने की दिशा में कोई गंभीर चर्चा ही की। आंदोलन की सारी गतिविधियां पूर्ववत् तंत्रबद्ध तथा निधि-आधारित ही चलती रहीं, यद्यपि वह निधि पूर्ण रूप से पुरानी संचित निधि ही नहीं रही, बल्कि कभी-कभी केन्द्रीय स्तर पर कोष इकट्ठा करने के रूप में भी रही। कुल मिलाकर क्रांति की प्रक्रिया की पद्धति में हम कोई अंतर नहीं ला सके।

तब से आज तक उस प्रश्न पर हम लोग आपस में रह-रहकर चर्चा जरूर करते हैं। लेकिन उस दिशा में कभी किसी किस्म के प्रयोग में नहीं लगे। अगर विनोबा तीव्रता के साथ आग्रह करते और इसके लिए अड़ जाते तो शायद कुछ अवश्य होता।

लेकिन हम सबको यह अवश्य

समझनाव चाहिए कि विनोबा जिस क्रांति की देश को प्रेरणा दे रहे हैं, वह अहिंसक क्रांति है। हम अपने को सिपाही और विनोबा को सेनापति मानते रहे हैं। लेकिन हिंसा और अहिंसा की सेना में सेनापति का स्वधर्म अलग-अलग होता है। हिंसा की सेना में सेनापति आदेश देता है। वहां उस आदेश की अवहेलना होने पर दंड दिया जाता है। लेकिन अहिंसा का सेनापति संकेत भर करता है और संकेत की अवहेलना हुई तो सिपाही को स्वतंत्र विचार के लिए छोड़ देता है। और वह विचार तब तक समझाता रहता है, जब तक वह उसे स्वीकार कर उस पर अमल करना प्रारंभ नहीं कर देता।

हिंसक क्रांति स्थूल तत्त्व पर कब्जा करने की होती है लेकिन अहिंसक क्रांति विचार तथा हृदय-परिवर्तन की होती है। इसके परिणाम से समाज के मूल्य तथा पद्धति में परिवर्तन सधता है। इसलिए अपना विचार सफाई से कह देने के बाद विनोबाजी के लिए यह स्वाभाविक था कि वे आंदोलन की गतिविधि के प्रकार का निर्धारण करने की जिम्मेदारी हमारे ऊपर छोड़ देते।

आखिर हम जो क्रांति की बात करते हैं, वह क्या चीज है? क्रांति का अर्थ है प्रचलित मूल्य, मान्यता तथा पद्धति के बदले एक नया मूल्य, मान्यता तथा एक नई पद्धति का अधिष्ठान करना। समाज में प्रचलित मूल्य यह है कि विशिष्ट जन के सहारे ही सामान्य जन चलें। प्रचलित सिद्धांत यह है कि समाज का सारा कार्यक्रम संचालन-पद्धति से चले। प्रचलित मान्यता यह है कि समाज का संतुलन दंड-शक्ति से हो।

हमारी क्रांति इस परंपरा को बदलकर सामान्य जन के सहारे समाज के फंक्शन चलाने की है। हम संचालन-पद्धति को बदलकर सहकार-पद्धति का अधिष्ठान करना चाहते हैं और हम चाहते हैं कि समाज के संतुलन की रक्षा दंड-शक्ति के बदले सम्मति-शक्ति से हो।

हमारी क्रांति इस परंपरा को बदलकर सामान्य जन के सहारे समाज के फंक्शन चलाने की है। हम संचालन-पद्धति को बदलकर सहकार-पद्धति का अधिष्ठान करना चाहते हैं और हम चाहते हैं कि समाज के संतुलन की रक्षा दंड-शक्ति के बदले सम्मति-शक्ति से हो।

साध्य और साधन की एकरूपता की रक्षा अगर नहीं होती तो साध्य भी साधन की दिशा में मुड़ने लगेगा—यह बात हमने गांधीजी से सीखी है। हम लोग आएदिन गांधी-विचार के प्रचार में इसे दुहराते भी हैं। लेकिन हम लोग अपने कार्यक्रम को विशिष्ट जन-आधारित तथा संस्थागत और व्यक्तिगत संचालन-पद्धति से चलाते रहते हैं। हम बात तो करते हैं सहकार-पद्धति की और अपने मन में मानते भी हैं कि हमारा काम संचालन-पद्धति से नहीं, सहकार-पद्धति से चल रहा है। साथ-साथ हम यह भी मानते हैं कि हमारा काम भी विशिष्ट जन के संचालन में नहीं, बल्कि गणसेवकत्व के सहारे चल रहा है। लेकिन अगर हम गहराई से विचार करेंगे तो समझ में आयेगा कि हम जो कुछ कर रहे हैं, वह संचालन-प्रक्रिया ही है, चाहे उसके अमल में कहीं-कहीं ढिलाई बरती जा रही हो।

संचालन के कार्यक्रम में संचालक की ओर से साधारण कार्यकर्ताओं पर स्वतंत्र निर्णय का अधिकार देना काफी नहीं है। वह संचालन की कुशलता मात्र है। अगर हम संचालन पद्धति को समाप्त करते हैं, तब संचालन के प्रतिष्ठानों और संस्थाओं को ही विसर्जित करना होगा। आज हम बात-बात में जो कहते हैं कि समन्वय के लिए कुछ केन्द्र रहना ही चाहिए, वह संचालन के संस्कार की ही अभिव्यक्ति मात्र है। हम अपने विचार के प्रति निष्ठा जरूर रखते हैं, लेकिन प्राचीन काल की परंपरागत संचालन-पद्धति और पाश्चात्य देशों से प्राप्त केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति का संस्कार हमें रह-रहकर अपनी ओर खींच लेता है।

हम कभी-कभी यह भी कहते हैं कि तंत्रमुक्ति और निधिमुक्ति का विचार तो हवाई कल्पना है। लेकिन समझना चाहिए कि इसी भारत देश में काफी लंबे अरसे से व्यापक पैमाने पर तंत्रमुक्त क्रियाशीलता का सफल प्रयोग हो चुका है। उसका एक महान उदाहरण यह है कि देशभर के उच्च कोटि के विचार कुंभ मेला में मिलते थे और आपस में चर्चा कर विचार-मंथन करते थे। वहां से विचार की व्यापकता को ग्रहण करके अपने-अपने क्षेत्रों में वापस जाते थे। वहां अपने विचार के अनुसार काम करते थे। विनोबाजी ने भी 1948 के प्रथम रचनात्मक सम्मेलन में सर्वोदय समाज की जो कल्पना रखी थी, वह भी इसी दिशा की ओर संकेत करता था।

आजकल भौतिक विज्ञान में आटोमेशन की बहुत चर्चा है। यह जो मैंने उपर्युक्त उदाहरण दिया है, वह समाज-विज्ञान का आटोमेशन है। इस देश में प्राचीनकाल से आटोमेशन प्रणाली के सफल प्रयास के बावजूद हम अपने विचार के अनुसार इस दिशा में कदम उठाने में घबराते हैं, यह हमारी क्रांति के लिए विडंबना ही है।

कुछ साथी कहते हैं कि कुंभ की बात दूसरी है, क्योंकि उनको कोई काम नहीं करना पड़ता था। लेकिन यह धारणा भ्रामक है। वस्तुतः समाज की क्रियाशीलता में जो भूमिका उन संत-महात्मा, ऋषि-मुनि और आचार्यों की रही है, वह किसी तरह की व्यवस्था की नहीं, बल्कि शिक्षण की भूमिका थी। व्यवस्था गृहस्थों की इकाई स्वावलंबन की पद्धति से चलती थी। स्पष्ट रूप से मालूम होना चाहिए कि हमारी भी भूमिका वही है। हमारी भूमिका व्यवस्थापक की नहीं, शिक्षक की है। अतः जितना काम वे लोग करते थे, उतना ही काम हमें भी करना है।

हमारे इस प्रयोग में ग्रामस्वराज्य का काम माध्यम हो और अहिंसा का प्रयोग मुख्य लक्ष्य हो। गांधीजी हमारे प्रयोग के लिए एक बड़ा संकेत देकर गये हैं। वह है, 'संगठन

अहिंसा की कसौटी है।' हम लोगों को सोचना होगा कि अहिंसक संगठन की रूपरेखा क्या होगी। हमारे सामने बापू का मंत्र है तथा निधिमुक्ति और तंत्रमुक्ति के रूप में विनोबाजी का संकेत है। अब सोचना हेगा कि इसका रूपायन किस प्रकार हो।

मैं एक बात यह भी कहता आया हूं कि हमारी पद्धति समिति की नहीं, सम्मेलन की होनी चाहिए। हम किसी 'संघ' में बंधे हुए न हों, बल्कि एक-दूसरे के 'संग' में बंधे रहें। मेरा संकेत सर्वोदय-समाज की कल्पना की ओर रहा है। उसी विचार पर इस बार की परिस्थिति को देखकर चिंतन चलता रहा है। मैं सोचता रहा कि नये प्रयोग की शुरुआत कहां से हो? उसके कार्यकर्ता किस प्रकार के हों? और उनकी जीविका आदि की व्यवस्था किस प्रकार से हो?

पहली बात यह है कि किसी संस्था या व्यक्ति द्वारा भेजा गया कार्यकर्ता क्रांति नहीं कर सकता है, चाहे वह कितना भी समर्थ क्यों न हो। वही कार्यकर्ता क्रांति कर सकता है, जो विचार के प्रति पूर्ण समर्पण के साथ क्षेत्र में पहुंच जाता है। फिर वह अपनी वृत्ति-शक्ति तथा विचार से काम करता है, किसी के निर्देशन में नहीं। अपनी जीविका के लिए वह चालीस गांव के प्रस्ताव के अमल का प्रयास करता है। यानी अपने मित्र के सहारे, अपने घर के सहारे या सर्वजन के सहारे जीए तथा क्षेत्र के जन-जन में प्रवेश कर उनसे स्नेह संबंध स्थापित कर उसी क्षेत्र के ग्रामीण जनों में से नये-नये ऐसे साथी कार्यकर्ता निकाले, जो इस आंदोलन को चला सकें। अर्थात हमारे कार्यकर्ताओं का यह काम रहे कि वे क्षेत्र में से जिम्मेदार सहयोगी ढूंढ़ निकालें और उन्हं विचार का प्रशिक्षण दें तथा कार्यक्रम के लिए सलाह दें।

मैं सोचता हूं कि इस विचार के अनुसार कार्यकर्ताओं की जीविका की एक नई पद्धति अपनायी जाये। यह पद्धति आर्थिक न होकर सांस्कृतिक हो, पारिवारिक हो। हम अपनी बैठकों में कार्यकर्ताओं के योगक्षेम के बारे में निरंतर विचार करते रहे हैं। लेकिन हम आज तक किसी निश्चित सिद्धांत पर नहीं पहुंच पाये हैं।

मैं सोचता हूं कि इस विचार के अनुसार कार्यकर्ताओं की जीविका की एक नई पद्धति अपनायी जाये। यह पद्धति आर्थिक न होकर सांस्कृतिक हो, पारिवारिक हो। हम अपनी बैठकों में कार्यकर्ताओं के योगक्षेम के बारे में निरंतर विचार करते रहे हैं। लेकिन हम आज तक किसी निश्चित सिद्धांत पर नहीं पहुंच पाये हैं। विनोबाजी की प्रेरणा से हम कभी-कभी संचित निधि-निरपेक्ष पद्धति को ढूंढ़ते जरूर रहे हैं। इस प्रयास में विशिष्ट जनों के संपत्ति दान तथा सर्वजन के सर्वोदय-पात्र का विचार भी सामने आया था। लेकिन उन तरीकों में हम अब तक सफल नहीं हो सके हैं। क्यों नहीं हो सके, उसका कारण भी ढूंढ़ना चाहिए।

मैं जब इस प्रश्न पर विचार करता हूं तो उसका कुछ कारण समझ में आता है। वस्तुतः एक बार का दान या चंदा किसी तीव्र प्रयास द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा एक मुश्त दान किसी भी अच्छे काम के लिए कोई भी दे सकता है। लेकिन ऐसे तदर्थ अवसर के छोर पर से दान प्रवाह निकल नहीं सकता है। दान-प्रवाह उसी विचार के लिए निकल सकता है, जिसकी आकांक्षा तथा स्वीकृति मनुष्य में है। दान-प्रवाह किसी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा की भावना से भी निकल सकता है।

लेकिन हम जिस विचार का अधिष्ठान करना चाहते हैं, उसकी परंपरागत स्वीकृति नहीं है। हम लोक-शिक्षण द्वारा समाज में उस विचार की स्वीकृति पैदा करना चाहते हैं। हम सर्वोदय पात्र आदि पद्धति उन कार्यकर्ताओं के लिए अपानाना चाहते हैं, जिनका काम परंपरागत मान्यताएं तथा सिद्धांतों को बदलने का है। ऐसे विचार के लिए वैसे मनुष्य में से दान-प्रवाह प्रवाहित नहीं हो सकता है, जिनकी इस विचार को प्रति निष्ठा नहीं है और उस विचार के अधिष्ठान की चाह नहीं है। वे हमारे काम को अच्छा मानकर कुछ चंदा जरूर दे सकते हैं, कभी कुछ खिला-पिला सकते हैं और दूसरे प्रकार से सहकार भी कर सकते हैं। लेकिन उनके हाथ से दान-प्रवाह नहीं निकलेगा।

आजादी के आंदोलन के दिनों में देश के करीब-करीब हर आदमी में आजादी की उत्कट चाह थी। ऐसे अवसर पर जब हम लोग घर-घर में मुठिया फंड के नाम से हंडिया रखते थे, तब सब घर वाले उत्साह से उसमें एक-एक मुट्ठी दान करते थे। जिस विचार के पोषण के लिए वह हंडिया रखी जाती थी, उसकी उत्कट चाह उनके मन में थी। धार्मिक संस्थाओं, मंदिरों तथा मठों के लिए निरंतर दान-प्रवाह बहता रहता है क्योंकि उसके लिए परंपरागत मान्यता है।

इसलिए हम लोगों को सोचना होगा कि हमारी पद्धति क्या हो, जिससे उस क्रांति के लिए दान-प्रवाह उपलब्ध हो, जिसके पक्ष में आज जनता की मान्यता मौजूद नहीं है। फिर यह भी देखना होगा कि उस पद्धति में से संचालन की प्रक्रिया की सृष्टि न हो। हमें इस बात को भी देखना होगा कि हमारा जो लक्ष्य ग्राम-परिवार से प्रारंभ कर विश्व-परिवार तक पहुंचना है, उसके साथ हमारी पद्धति का मेल हो।

संपत्तिदान के अवसर पर हमने माना था कि दाता अपने दान का हिसाब खुद रखेगा और उसमें एक मद यह रखेगा कि वे कार्यकर्ताओं के योगक्षेम के लिए भी सहायता दें। आज जब मैं नये सिरे से सोचना शुरू करता हूं तो लगता है कि उक्त पद्धति भी हमारे लक्ष्य के अनुरूप नहीं थी क्योंकि हम उस समय आर्थिक भूमिका पर ज्यादा सोचते थे, पारिवारिक भूमिका पर नहीं।

इन तमाम प्रश्नों पर विचार करते-करते अब मुझे लग रहा है कि अगर हम मित्राधार के विचार को कुछ व्यवस्थित ढंग से विकसित करें तो उसमें से दान प्रवाह की एक नई भूमिका निकल सकती है, सामने आ सकती है और उसके साथ कुछ पारिवारिक बुनियाद भी पड़ सकती है। हम बहुत से→

18 जून : दादा धर्माधिकारी जयंती

छोटे मालिक की क्रांति

❑ दादा धर्माधिकारी

जिनको क्रांति में हिस्सा लेना है, उसके सामने दो बातें साफ होनी चाहिए। एक तो यह कि अब इससे दूसरा कोई अच्छा रास्ता नहीं है, और दूसरी यह कि क्रांति यदि सफल हो जाय, तो आज की हमारी जो हालत है, उससे हमारी हालत कुछ अच्छी ही रहेगी।

जो लोग आज भूमिहीन हैं, उनके बारे में हम कह सकते हैं कि यह बात ठीक लागू होती है। भूमिदान में उन्हें जमीन मिल जायेगी। आज का उनका जो सामाजिक रुतबा है, वह कल ठीक हो जायेगा। लेकिन जो छोटे-छोटे भूमि-मालिक हैं या छोटे-बड़े भूमि-मालिक हैं, उनके लिए यह चीज कैसे लागू होती है? यह बात हमारे सामने विचार के लिए रखी गयी है।

आमूलाग्रह परिवर्तन वांछनीय : हम आज सामाजिक प्रगति में एक ऐसे मुकाम पर पहुंच गये हैं कि आज की स्थिति जैसी है, वैसी नहीं रह सकती। इसे तो बदलना ही होगा। प्रश्न है कि इसके बदलने की दिशा क्या होगी? इसको बदलने की दो दिशाएं दो तरह के लोगों ने हमारे सामने रखी हैं। सबको वह अवसर दे दो कि हरएक अपनी-अपनी पूरी ताकत लगाये और अपनी स्थिति सुधार ले। यानी जो जितना कमा सके, वह उतना कमा ले, ऐसा अवसर हरएक को दे दो। समाज में आज तक इसका प्रयोग हुआ। इसे हमने 'प्रतियोगिता' कहा, 'होड़' कहा। इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ लोग बहुत आगे निकल गये। जो आगे निकल गये, होड़ में जीत गये। फिर वे सौ में से दस ही क्यों न हों! वे अमीर बन गये और कुछ लोग होड़ में पीछे रह गये। वे किसी समय परिस्थिति के कारण पीछे रह गये और फिर एक दफा जो पीछे रहे, सो रहे। फिर आगे निकलना बहुत मुश्किल हो गया, ऐसी परिस्थिति बनी। अतः आज की परिस्थिति में आमूलाग्र परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया है। इसलिए क्रांति के सिवा दूसरा कोई चारा नहीं रह गया। आज जो क्रांति हमें करनी है, वह सबके हित की होगी, सबके लाभ की होगी।

अब इसमें जो सबसे नीचे है, उस आदमी का लाभ तो समझ में आता है। लेकिन जो बीच में हैं, जो बिलकुल ऊपर भी नहीं हैं और बिलकुल नीचे भी नहीं हैं, ऐसे जो छोटे-छोटे मालिक हैं, इनकी समस्या हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या है। वर्गों का आज का जो नक्शा है, वह नक्शा ही ऐसा है कि सौ में गैर-मालिक कुछ होंगे, बड़े मालिक थोड़े-से होंगे और बाकी के सब छोटे-छोटे मालिक हैं।

छोटे मालिकों की स्थिति : इन छोटे मालिकों की स्थिति क्या है? छोटी मालकियत अपने में पर्याप्त नहीं है। यदि हरएक छोटे मालिक की मालकियत उसके अपने लिए पर्याप्त होती, तो आज समाज में

→साथी देशभर के लोगों से संपर्क रखते हैं और उनमें बहुत से ऐसे परिवार हैं, जो समर्थ हैं, हमारे विचार के प्रति निष्ठा रखते हैं और चाहते हैं कि अपने को अपनी स्थिति में रखते हुए इस क्रांति के काम में किसी न किसी प्रकार जुड़ जाएं।

ऐसे लोगों को हम सुझाव दे सकते हैं कि वे अपने परिवार के एक सदस्य को इस काम के लिए समर्पित कर दें। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि सारी निष्ठा, श्रद्धा और भक्ति के बावजूद उनमें से कोई निकलने के लिए आसानी से तैयार नहीं होगा। इसलिए हम उन्हें इस बात की प्रेरणा देने का प्रयास करें कि वे किसी निकले हुए तरुण या तरुणी को अपने परिवार में जोड़ लें, उसे अपने ही परिवार का मानकर गोद ले लें। उसे अपने परिवार का एक सदस्य मानकर उसके गुजारे का प्रबंध करें। इतना ही नहीं, बल्कि परिवार के सदस्य के नाते उसके कार्यक्रम तथा गतिविधि से संपर्क भी रखें। कभी-कभी उसके कार्य क्षेत्र में अपने परिवार के साथ क्षेत्र देखने के लिए चले भी जायें तथा साथ ही उसे अपने परिवार के अनुष्ठानों में निमंत्रित भी करें।

इस प्रकार की भावना अगर पैदा हुई तो इससे केवल जीविका का प्रश्न हल न होकर सर्वोदय समाज का पारिवारिक संबंध व्यापक रूप से विकसित हो सकेगा। मुझे पूरा विश्वास है कि हम लोग अगर व्यवस्थित ढंग से इसका प्रयास करेंगे तो सफलता अवश्य मिलेगी क्योंकि यह जमाने की मांग है।

जब इस प्रकार गोद लिये हुए तरुण साथी बहुत अधिक संख्या में भिन्न-भिन्न सघन क्षेत्रों में बैठ जायेंगे तो वे अपने-अपने क्षेत्रों में अपने ढंग से काम करेंगे तथा समय-समय पर सम्मेलन-पद्धति से परस्पर मिलकर चर्चा करेंगे। इस प्रक्रिया को मैं संघ-पद्धति के बदले 'संग' पद्धति कहता हूं।

जब हम लोग इस प्रकार सोचते रहेंगे और कुछ प्रयोग करते रहेंगे तो अहिंसक संगठन की खोज में नित्य एक नया स्रोत दिखायी देने लगेगा। ❑

हमें जो असंतोष दिखायी देता है, वह दिखायी नहीं देता। आज छोटे-छोटे किसानों की क्या हालत है? यही कि जिसके पास तीन-चार एकड़ जमीन है, उसकी यह कोशिश रहती है कि जमीन बढ़े। उन लोगों को हमें यह समझाना है कि तुम्हारे पास जितनी मालकियत है, वह मालकियत आज तुम्हारे लिए कम नहीं है। इससे ज्यादा मालकियत अगर तुम चाहते हो, तो उसे हासिल करने की कोशिश में समाज में फिर प्रतियोगिता आयेगी। अभी तक प्रतियोगिता का जो नियम जारी रहा है, वही समाज में चलता रहेगा और आज की समाज-रचना को, जिसे आप बदल देना चाहते हैं, उसे बदलने में न हमें सफलता मिलेगी, न आपको। बड़े मालिक को हम समझाते हैं कि बड़ी मालकियत अब रहने वाली नहीं है, क्योंकि बड़ी मालकियत तो इन छोटे मालिकों के और मजदूरों के भरोसे चलती है। बड़े मालिक की मालकियत उसके अपने भरोसे पर नहीं चलती।

अक्सर यह देखने में आता है कि बड़ा मालिक छोटे मालिक से यह कहता है कि ''मालकियत जायेगी, तो सिर्फ मेरी थोड़े ही जायेगी, तेरी भी तो जायेगी। मेरे 100 एकड़ जायेंगे, तो तेरे 10 एकड़ भी जाने वाले हैं।'' और वह डरता है कि 'मेरे दस एकड़ जायेंगे, तो क्या होगा?' सौ एकड़ वाला कहता है कि 'दस एकड़ बचाना है न, तो हम सब मालिक-मालिक एक हो जायं।''

सवाल है कि आखिर वे कैसे समझेंगे कि क्रांति सफल होने के बाद हमारा लाभ होगा? प्रायः देखा जाता है कि मालिक चाहे एक एकड़ का हो, चाहे सौ एकड़ का, जब मौका आता है तब सब मालिक एक हो जाते हैं। अब हमें करना यह है कि गैर-मालिक और छोटे मालिक, इन दोनों को एक-दूसरे के साथ मिला दें। छोटे मालिक और गैर-मालिक यानी भूमिहीन और छोटे किसान, इन सबको एक-दूसरे से मिला देने की प्रेरणा कहां से आयेगी? उन्हें हम कैसे बतलायेंगे कि क्रांति यदि सफल हो जायेगी, तो आज की तुम्हारी जो हालत है, उससे तुम्हारी हालत अच्छी होने वाली है? यह बात हम उनके सामने कैसे रखें? हमारे सामने अब इतना ही सवाल रह जाता है।

ढांचा बदलना आवश्यक : सबसे पहली बात उन्हें हम यह समझाते हैं कि आज तुम्हारे पास जितनी मालकियत है, क्या वह मालकियत तुम्हारे लिए काफी है? आज की तुम्हारी मालकियत बढ़ेगी, तो तुम्हारे जैसे जो दूसरे छोटे मालिक हैं, उनकी भी मालकियत बढ़ सकती है। लेकिन इसका नतीजा यह होगा कि कुछ छोटे मालिक गैर-मालिक बनेंगे, तभी इन छोटे मालिकों की मालकियत बढ़ेगी। केवल बड़े मालिकों की मालकियत खतम हो जाने से छोटे मालिकों की मालकियत नहीं बढ़ती है।

एक दफा वेतन आयोग ने मुझसे पूछा, ''तुम क्या करना चाहते हो?'' मैंने कहा, ''यही कि बड़े-बड़े लोगों की तनख्वाहें कम कर दी जायं।''

''कितनी तनख्वाहें चाहते हो?''

मैंने कहा, ''कम-से-कम सौ रुपया रखो, ज्यादा-से-ज्यादा हजार रुपया रखो। इससे ज्यादा जिसकी तनख्वाह हो, उसे कम कर दो और बाकी के लोगों में बांट दो।'' ''हजार से ज्यादा पाने वाले कितने हैं?'' तो सारे प्रांत में कोई 25-30 लोग ही निकले। उनकी तनख्वाहें बांटने से इनकी तनख्वाहें बढ़ नहीं सकती थीं। इसलिए आज की नौकरियों की तनख्वाहों का ढर्रा ही आमूलाग्र बदलना पड़ेगा, यह बात सबके ध्यान में आ गयी।

स्कूल के मास्टरों और मेहतरों, दोनों ने हड़ताल की कि हमारी तनख्वाहें बढ़ जानी चाहिए। मुझसे सरकारी अधिकारियों ने सलाह ली कि ''तुम होते, तो क्या करते?''

मैंने कहा कि ''मैं होता तो कुछ ऐसा काम करता कि आप मुझे महमूद तुगलक कहते!''

पूछा, ''सो कैसे?''

मैंने कहा कि ''इन मास्टरों में से एक को मैं म्युनिसिपैलिटी का अध्यक्ष बनाकर कह देता कि अब तुम तनख्वाह बढ़ा दो। मेहतरों की हड़ताल होती, तो एक मेहतर को उपाध्यक्ष बनाकर उनसे कहता कि अब तुम दोनों मिलकर तनख्वाह बढ़ाओ। तब वे कहते कि इस म्युनिसिपैलिटी का ढांचा ही बदलना चाहिए। आज म्युनिसिपैलिटी की जैसी रचना है, जिस तरह से हमें तनख्वाहें दी जाती हैं, ये सारी रचनाएं ही हमें बदलनी होंगी।''

मालकियत का बंटवारा हो : आज छोटे मालिक के मन में यह स्वप्न है, उसे यह आशा है कि मैं अपनी मालकियत को आज के समाज में बढ़ा सकता हूं। उसे यह समझा देना है कि तेरी (सभी छोटे मालिकों की) मालकियत तो बढ़ ही नहीं सकती और जिन छोटे मालिकों की मालकियत बढ़ेगी, उसके कारण आज जो छोटे मालिक हैं, वे गैर-मालिक बनते चले जायेंगे। वे अगर गैर-मालिक बनते चले जायेंगे, तो तेरे मन में जो झगड़ा है, वह सारे समाज के मन में पैदा हुए बिना नहीं रहेगा। इसलिए तुझे अपनी छोटी मालकियत दूसरे छोटे मालिकों के साथ मिला देनी चाहिए और गैर-मालिकों को अपनी छोटी मालकियत में शामिल कर लेना चाहिए। आज की तेरी जो हालत है उससे कहीं बेहतर हालत हो सकती है। आज तो तेरी मालकियत निर्वाह के लिए भी काफी नहीं है, लेकिन उस दिन जब सारी छोटी मालकियतें मिल जायेंगी, तो सबका मिलकर जो उत्पादन होगा, उसके वितरण में आज की अपेक्षा अधिक न्यायसंगत वितरण की योजना बन सकती है। आज तो अपने लिए केवल तू ही जिम्मेवार है, उस दिन सब सबके लिए जिम्मेवार हो सकते हैं। इस प्रकार की एक प्रेरणा छोटे मालिकों के मन में हम पैदा करते हैं और मेरा अपना अनुभव है कि पढ़े-लिखे लोगों को यह समझने में भले ही थोड़ी-बहुत दिक्कत हो, गांव के आदमी जो छोटे मालिक हैं, छोटे किसान हैं, उनकी समझ में हमारी बात बहुत जल्दी आ जाती है।

क्रांति के अनुकूल भूमिका : गरीब आदमी और छोटा किसान जमाने की आकांक्षा के कारण इतना तो जरूर समझ लेता है कि इस क्रांति में कोई ऐसी बात है, जिससे मेरे साथ जो छोटे मालिक हैं, वे आज से अच्छी हालत में रहने वाले हैं। अपनी, या हरएक की अपनी-अपनी हालत आज या कल अच्छी होगी, यह प्रेरणा कम हाती है; अधिक प्रेरणा यह होती है कि जिस वर्ग में मैं रहता हूं, मेरे जैसे जो दूसरे आदमी हैं, उनकी कल क्या हालत होगी? इसका विचार जब मनुष्यों के मन में पैदा होता है, तब 'क्रांति के लिए अनुकूल भूमिका और अनुकूल संगठन' उत्पन्न होता है। हरएक व्यक्ति जब अपना ही अपना विचार करता है, तो उसमें से क्रांति नहीं होती। क्रांति तब होती है, जब हर आदमी अपने साथ अपने जैसे दूसरे आदमियों का विचार करता है और वह इसलिए करता है कि सबको मिलकर एक-दूसरे का संरक्षण करना है। एक दिन सारे रिक्शे वाले एक हो जाते हैं, सारे तांगे वाले एक हो जाते हैं, सारे मालिक एक हो जाते हैं, और इसलिए एक हो जाते हैं कि उनमें एक प्रकार की समानता होती है। छोटे मालिकों में यह जो समानता है, उसके आधार पर हम उन्हें समझाते हैं कि आज तुम छोटे मालिक हो, लेकिन छोटे मालिकों में भी छोटे-बड़े हैं ही। छोटों में भी जो छोटे-बड़े हैं, उन सबको समान बनाने का इसके सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

समाज में क्रांति हो : कुछ भूमिहीन आज ऐसे हैं, जिन्हें दिन में दो-दो, तीन-तीन रुपये मिल जाते हैं। वे हमसे कहते हैं कि ''हमें तो आज महीने में 100 रुपये मिल जाते हैं और तुम्हारी जमीन आयेगी, तो मेहनत-मशक्कत भी करो और इसके बाद भी बड़ी मुश्किल से जो ऊपज होगी, वह 100 रुपये के बराबर तो होगी ही नहीं। इसलिए हमें जमीन नहीं चाहिए। हम तो नागपुर में रिक्शा चलाते हैं, वही अच्छा है।''

ऐसे मजदूर को समझाना बहुत मुश्किल हो जाता है। उसे समझाना पड़ेगा कि इस रिक्शे का आज जो किराया मुझे मिलता है, वह किराया कितने दिनों तक मिलता रहेगा? यह किराया देने वाले लोग समाज में कितने दिन रह सकेंगे उनकी तनख्वाहों की कितनी निश्चितता है? ये सारी बातें जब हम उनके सामने रखते हैं, तब रिक्शा वालों के यूनियन में पहले तो रिक्शे का किराया बढ़ने की मांग होती है और उसके बाद यह मांग होती है कि इस समाज में ही क्रांति होनी चाहिए।

आज रिक्शे वालों की यूनियन का कहना है कि जब तक तांगे चलेंगे, तब तक हमारा काम नहीं चलेगा। किसान कहता है, ''अनाज सस्ता हो गया, हम मर गये।'' मजदूर कहता है, ''अनाज सस्ता हो गया, हम तर गये।'' इस तरह के अंतर्विरोध सिर्फ अमीरों और गरीबों के बीच में, मालिकों और मजदूरों के ही बीच में नहीं हैं। पूंजीवाद के कारण, प्रतियोगिता के कारण, जितने अंतर्विरोध हैं, वे समाज के अंतिम स्तर तक, छोटे-से-छोटे स्तर तक चले गये हैं। उनको हम उन्हीं की भाषा में समझायें और अब तक का अनुभव यह है कि उनकी भाषा में हम यह बात उन्हें समझा सकते हैं। इस देश का आदमी बहुत चतुर है। विनोबा हमेशा कहते हैं कि हमारे देश का आदमी तो ऐसा है कि वह ब्रह्म और माया को समझता है। फिर वह भला यह नहीं समझ सकेगा कि गरीबी किस तरह से खतम होती है, अमीरी किस तरह से खतम होती है? जड़ की बात, मूल बात बड़ी जल्दी उसकी समझ में आ जाती है। उसे समझाने के लिए हम नैतिक और सांस्कृतिक प्रेरणा का भी उपयोग कर सकते हैं। विनोबा तो धार्मिक प्रेरणा का उपयोग कर ही रहे हैं। देहाती के दिल में आकांक्षा के अनुरूप क्रांति की प्रेरणा जितनी होती है, उतनी क्रांति का संदेश बगैर भाषा के भी उनकी समझ में बहुत जल्दी आ जाता है।

(श्री मनुभाई पंचोली और श्री वजुभाई शाह के प्रश्नों के उत्तर में 24.8.1955 का प्रवचन) ❑

जब हम चौदह तारीख को मिलेंगे

❑ विचित्र भाई

भारतीय खादी ग्रामोद्योग संघ के अध्यक्ष विचित्र भाई सचमुच विचित्र ही थे। खादी का जी भरके काम किया। उस काम में लगातार आती जा रही गिरावट को बड़ी बारीकी से देखा-परखा और उसके लिए जो जिम्मेदार थे–चाहे वे अपने हों या कि पराए– बिना लाग लपेट सबको आड़े हाथों लिया। जब संकट बहुत बढ़ गया तो प्रधानमंत्री मोराजजी देसाई से मिलने की तारीख तय हुई। तारीख आने से कोई दो हफ्ते पहले उन्होंने मोरारजी भाई को एक सख्त-सा लंबा पत्र भी लिखा। इसमें उन्होंने मोराजजी भाई को खादी का संकट ठीक से समझाया और कहा कि हमारा यह मिलना केवल एक रस्म होकर न रह जाये। आज जब खादी को बड़ी कंपनी को देने कोशिश हो रही है, ऐसे में विचित्र भाई के इस पत्र का पुनर्अवलोकन वर्तमान सरकार के लिए भी जरूरी लगता है। –सं.

प्रिय श्री मोरारजी भाई,

उस दिन आपसे मिलकर आंतरिक आनंद हुआ। आपके बीच-बीच में अनेक वक्तव्य पढ़ने को मिलते हैं। उनसे भी हार्दिक आनंद होता है। आपने हम लोगों को समय देने का आश्वासन दिया था—अब सोमभाई से मालूम हुआ कि आपने 14 मई उसके लिए निश्चित कर दी है। सोमभाई की इच्छा है कि मैं आपको इसके लिए बाकायदा निमंत्रण दूं। परिणाम स्वरूप अध्यक्ष के नाते

14 तारीख को हम लोगों के बीच उपस्थित होने के लिए विनम्र प्रार्थना कर रहा हूं। समय शायद 10 बजे रखा है। पर वह आपकी सुविधानुसार कुछ इधर-उधर हो सकता है।

सोमभाई शायद चाहेंगे मैं इसके लिए आपको धन्यवाद भी दूं। शिष्टाचार ऐसा है। पर धन्यवाद की बात मेरे अंदर से नहीं आती है। उसके स्थान पर आनंद जरूर है। धन्यवाद में परायापन तो है ही। पर जिस काम के लिए हम इकट्ठा हो रहे हैं, उसका महत्त्व भी कम होता है। इस देश के गरीबों और दीन-दुखियों के लिए कुछ भी कर सकना तो परम गौरव की बात है। उसे करके हमारा जीवन धन्य होता है तो इस पुण्य काम में सहधर्मी होना परम सौभाग्य की बात है। धन्यवाद कौन किसको दे?

एक बार जवाहरलाल जी से ऐसे ही प्रसंग में कहना पड़ा था कि हम आपसे करोड़ों रुपया लेंगे पर आप यह न समझिएगा कि आप हमारे ऊपर अहसान करेंगे। न हम आप पर कोई अहसान करेंगे। हमारा सबका कर्तव्य है—समाज ने जिन्हें सब तरह से वंचित रखा है, उनके साथ हम न्याय करें। पर अगर अहसान की बात आती ही है तो हम सरकार पर अहसान करेंगे क्योंकि सरकार ने डिरेक्टिव प्रिंसीपल्स में यह वादा किया था कि वह सबको आजीविका देगी—सर ढकने को छाया देगी आदि—और हम आपको एक बहुत सस्ती एक्सपर्ट और ईमानदार सेवा देंगे। हमने यह भी कहा था कि आप हमारी यह बात समझ सकेंगे। पर आपके अधीनस्थ कर्मचारी शायद इसे समझ भी न सकें।

दुर्भाग्य से जवाहरलाल जी एक बहुत बड़े नेता और विचारक होते हुए भी गांधीजी और खादी ग्रामोद्योग की बात पूर्णतः नहीं समझ सके थे। अपने जीवन के अंत काल में उन्हें अपनी असफलता का आभास होने लगा था। और वे शायद एक असफलता की भावना ही अपने साथ भी लेकर गये। आपको शायद लगे मैं व्यर्थ आपका समय नष्ट कर रहा हूं। पर ऐसा नहीं। मुझे लगता है 10 साल में गरीबी, बेकारी हटाने का जो संकल्प आप लोगों ने लिया है, आपके अनेक प्रतिनिधि इसे समय-समय पर दुहराते हैं, उस दृष्टि से अगर हम देखें तो हम जिस रफ्तार से चल रहे हैं, वह अत्यंत धीमी है।

यह इतिहास की घटना थी जब आप लोगों ने बापू की समाधि पर अपने संकल्पों को दुहराया। जयप्रकाश बाबू, दादा कृपालानी आदि का उस समय उपस्थित रहना और इस अवसर पर भागीदार होना वास्तव में ऐतिहासिक ही नहीं, एक अहिंसक क्रांति का द्योतक है। देश जिस भय और निराशा के दुखद काल में से गुजर रहा था, उसका स्वर्णिम अंत यह था। देश की आशाएं बहुत ऊंची उठ गयी हैं और आप लोगों से वह पूरी होनी हैं, ऐसा उसका विश्वास है।

देश की आशाएं आप लोगों पर लगी हैं। इस संदर्भ में आप देखेंगे तो खादी कमीशन की स्थापना और उसे प्रचुर मात्रा में धन भी देना उन आशाओं की आंशिक पूर्ति भी नहीं कर सकेगा। दुर्भाग्य से आज तो हम वह भी दावे से नहीं कह सकते जो जवाहरलाल जी से हमने कहा था कि हम एक सस्ती ईमानदार एक्सपर्ट सेवा आपको उपलब्ध कराते हैं। आज हमारे खादी कार्यकर्ता माना कि सरकारी पैमानों से कम पाते हैं। कमीशन की तनख्वाहें व अन्य पारितोषिक दूने हैं। फिर भी आज का औसत कार्यकर्ता भी पहले अपना हित देखता है। जिन गरीबों और असहायों की सेवा के लिए वह है, उनकी चिन्ता उसे कम है। या अगर यह भी मैं कह दूं कि उनकी चिन्ता उसकी नींद को कभी हराम करती ही नहीं तो भी गलत न होगा। कार्यकर्ताओं की मीटिंगों में अपनी महंगाई, अपनी परेशानी की चर्चा तो खूब होती है पर कत्तिन, बुनकरों और कारीगरों को भी कष्ट है, उनकी भी महंगाई बढ़नी चाहिए—इसकी चर्चा उनकी ओर से कभी नहीं होती।

और सबसे आश्चर्य की बात है कि सरकार भी जो करोड़ों रुपया देकर इस उद्योग को पुनर्जीवित करने की सोचती है, उसके श्रम मंत्री भी कभी इन सच्चे उत्पादकों और श्रमिकों की चिन्ता नहीं करते। वे भी अपनी टैक्स्ट बुक्स में जो उन्होंने पढ़ा है, उसे दुहराते रहते हैं। इन गरीबों को छुट्टी मिले, आठ घंटे से ज्यादा कम न करना पड़े, भविष्य निधि भी इन्हें मिले, ग्रेच्यूटी भी मिले—बोनस भी मिले, इसकी चर्चा कभी नहीं होती। किसी के विचार में भी यह नहीं आता है।

पर हां, जिन्हें सबसे अधिक मिलता है, साल भर में 100 दिन से ज्यादा की छुट्टी मिलती है, जो 8 घंटे भी औसत काम नहीं करते, उनको और भी मिले, उनके लिए मिनिमम वैजेज एक्ट भी है। पर यह सब आये कहां से—यह कोई सोचता भी नहीं। खादी विचारी खुद सरकारी अनुदानों पर चल रही है।

तो अगर इसी एजेंसी के मार्फत आपकी शपथ जो जनता के सामने आपने ली है, वह पूरी होने है तो 100/200 साल में भी वह हो सकेगी, इसमें शंका है। इस प्रश्न की अवहेलना करके कि यह हल हो जायेगा—ऐसा वे सोच सकते हैं। जो वे कहते हैं लेकिन उसे समझते नहीं। आप उनमें से नहीं हैं, इसमें मुझे शक नहीं, जयप्रकाश बाबू उनमें से नहीं, दादा कृपालानी उनमें से नहीं। चौधरी चरध सिंह भी आज इसकी गंभीरता को समझते हैं। मुझे आशा है आप के कई दूसरे साथी भी ऐसे हैं, जो अपनी सत्यनिष्ठा और सद्भावना के लिए श्रद्धा के पात्र हैं।

यह लंबा पत्र लिखने के पीछे मेरी यही सफाई है। आप लोगों की बदनामी हो—गरीबी हटाओ का नारा जैसे मजाक बनकर रह गया, वैसे ही पुनः न हो। यह तो है ही, पर वे करोड़ों लोग जो गरीबी की रेखा से नीचे हैं, उनका कभी तो उद्धार हो। और इस काम के लिए आज से ज्यादा उपयुक्त समय और कब हो सकता है? 14 तारीख को हम सब सोच लेंगे, तय कर लेंगे—यह आशा मुझे नहीं। वास्तविक सोचना-चिंतन तो कम से कम व्यक्तियों को लेकर होता है। उस पर मुहर लगाने का काम बड़े जलसों में हो सकता है। कुछ नये मुद्दे भी सामने आ सकते हैं। वे अपनाये जा सकते हैं। पर इस बड़ी

मीटिंग की मार्फत प्रश्न हल करने की आशा दुराशा मात्र है।

अधिकांश खादी संस्थाओं का अनुभव 50-52 साल का तो है ही। कुछ सन् 1920 से ही क्षेत्र में आ गयी थीं। इस लंबे काल में वह स्वर्ण काल भी शामिल है जब स्वयं बापू चर्खा संघ की अध्यक्षता करते थे और छोटी से छोटी तफसील में जाते थे। तब से आज तक प्रायः वही ढर्रा चला आ रहा है। कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है। सिर्फ अंतर है तो इतना कि गांधीजी के समय में खादी सिर्फ त्याग और सेवा की प्रतीक थी—आजादी के बाद वह शान-शौकत और सब्सिडी और रिबेट पर जिन्दा रहने वाली चीज हो गयी है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि हम सिर्फ भावना पर खादी को चलाना चाहते हैं या एक व्यापार की वस्तु की तरह जो बाजार में रिबेट, सब्सिडी के बल पर प्रतियोगिता के सामने खड़ी हो सके। तीसरा तरीका, इन दोनों दृष्टियों को मिलाकर भी हो सकता है। भावना पर जहां जोर दिया जाये, वहां वस्तु को सस्ता करने की भी कोशिश की जाये और प्रतियोगिता का कुप्रभाव न पड़ सके, यह भी देखा जाये।

भावना का प्रचार सिर्फ खादी कार्यकर्ता कर देगा, यह भूल नहीं होनी चाहिए। हरेक मंत्री—हरेक पार्टी जो खादी में यकीन करती है, कोई मौका न चूके। खादी के महत्त्व की चर्चा करे और देश के उत्थान में उसका महत्त्व बताये।

रिबेट, सब्सिडी हम कहां तक दें, कितनी दें ताकि खादी का उत्पादन दिन रात बढ़ता चला जाये और उसकी बिक्री की समस्या भी न रहे। खादी कार्यकर्ता कहां तक वफादारी, ईमानदारी से यह जिम्मेदारी उठा सकेंगे यह भी देखना पड़ेगा। पिछला इतिहास बहुत प्रिय नहीं है। करोड़ों नहीं तो लाखों रुपया गलत तरीके से अनुदान के रूप में लिया गया। यह आगे न हो या होगा—यह भी छोटा प्रश्न नहीं।

इसके अलावा घर-घर पर खादी पहुंच जाये। मिल का बना वस्त्र सब बाहर देशों में चला जाये, तब भी 6-7 प्रतिशत लोगों से अधिक को पूर्ण रोजगार नहीं मिलेगा।

खादी तो सूर्य है, जिसके चारों ओर हजारों गृह उद्योग घूमेंगे—यह भी हो जाये तब भी सरकार 20-25 प्रतिशत को काम देने में सफल होगी। यह सब काम चार-पांच आदमी खादी कमीशन में बैठकर हल कर लेंगे—चाहे जितने भी योग्य वे क्यों न हों—यह आशा आप लोग करेंगे तो प्रश्नों की उपेक्षा करना होगा।

इसके लिए तो आप सबको—आपकी सारी सरकार को, आपके योजना आयोग को और तब आपके मार्फत उन सब लोगों को जो इसमें योगदान दे सकते हैं—नया सोचना और नया कुछ करना पड़ेगा।

एक बार जवाहरलाल जी को लिखा कि खादी और उसके जो अभिप्राय और फलितार्थ हैं, उनको समझने के लिए समय की जरूरत है। आपके पास समय नहीं। हम जो आपको कहें कि यह करो, वह करो—यह अनुचित होगा। आप स्वयं उसे समझने का समय निकालें। पर आपके पास तो समय नहीं है। और बिना समझे आप कुछ न कर सकेंगे। यही दुखद किस्सा अब फिर से न दुहराया जाये।

गांधीजी की दृष्टि में खादी सिर्फ वस्त्र ही नहीं थी। खादी उनके सारे समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, यहां तक कि राजनीति का भी प्रतीक थी। ट्रस्टीशिप की उनकी नीति इसमें निहित थी। प्रेम, सादगी, सहयोग की यह जीवंत मूर्ति थी। जिसकी हम सेवा करें, उसमें कितना अधिक हम अपने लिए लें, इसके लिए कुछ मर्यादाएं बांधी गयी थीं। पैसा हमारा मापदंड न हो—मानव का श्रम, उसकी आवश्यकता हमारी योजना का आधार हो।

हम लोग गरीबी हटाने की बात सदा कहते हैं। पर क्या हम सब उसका अभिप्राय, फलितार्थ समझते हैं? और क्या उसके अनुकूल हम अपना जीवन ढालने को तैयार हैं? कल को मान लो एक चमत्कार हो जाये और गरीबी हट जाये। कितना परिवर्तन हमें अपने जीवन में लाना होगा। अगर हम सचमुच गरीबी हटाना चाहते हैं तो क्या क्रमशः उसे आज ही से लाने की दिशा में अग्रसर नहीं होना चाहिए? खादी उसी का रास्ता दिखाती है। यहां महंगी, सस्ती का प्रश्न उठता ही नहीं। अगर गरीबी हटाने को कटिबद्ध हैं और सच्चाई से उस पर अमल करना चाहते हैं तो हमें आज के प्रायः सब मूल्य बदलने होंगे।

पत्र लंबा हो गया। सूत्रों में लिख सकने की क्षमता मेरे में नहीं। पर हमारा मिलना एक रस्म मात्र ही होकर न रह जाये। इससे हम लोग पहले कुछ सोचकर आयें इसलिए यह लंबा पत्र लिखने की धृष्टता कर रहा हूं।

अंत में सिर्फ एक बात कह कर समाप्त करूंगा। आपने एक से अधिक बार कहा है कि चर्खा संघ जैसी कोई चीज हमें खड़ी करनी चाहिए। पहले चर्खा संघ था। उसे सर्व सेवा संघ में विलीन कर दिया गया था। अब सर्व सेवा संघ स्वयं अपने को समाप्त करने पर तुला है। वह बहुत कुछ विनोबा की कृति थी। विनोबा संगठन मात्र में हिंसा देखते हैं। ठीक है उनके संन्यास के साथ सर्व सेवा संघ का भी विलय हो जाये तो अनुचित न होगा। पर जैसे गो सेवा को पुनः जीवित किया गया वैसे ही खादी समिति को भी क्यों न पुनर्जीवित किया जाए? हम लोग स्वयं करेंगे तो छोटी-बड़ी संस्था के प्रश्न उठेंगे। जो विरोध नहीं होना चाहिए वह भी उठ सकेगा।

आप कुछ लोग चोटी के, जयप्रकाश बाबू, दादा कृपालानी आदि गांधीजी की रचनात्मक प्रवृत्तियों को जीवित रखने, उन्हें व्यापक और सुदृढ़ बनाने के ख्याल से खादी ग्रामोद्योग समिति की स्थापना करें तो उसकी प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी, उसका स्थायित्व भी बढ़ेगा। यह सब आपके विचार के लिए लिख रहा हूं।

इस पत्र की कॉपी मैं जयप्रकाश बाबू, दादा कृपालानी आदि के पास भी भेज रहा हूं। आपके कुछ मंत्रियों के पास भी और अपने कुछ खादी कार्यकर्ता साथियों के पास भी ताकि 14 तारीख को हम जब मिलें तो इन प्रश्नों पर मुक्त चर्चा हो सके।

आपका - विचित्र भाई

बा-बापू : 150वीं जयंती पर विशेष

'बा'
जुलू विद्रोह और कस्तूरबा

❑ गिरिराज किशोर

गांधीजी को लेकर एक बड़ा और चर्चित उपन्यास प्रस्तुत कर चुके श्री गिरिराज किशोर ने अब बा पर कलम उठायी है। बा पर कुछ भी लिखना बहुत कठिन था। नहीं के बराबर जानकारियां। 'पहला गिरमिटिया' की सामग्री जुटाने में उन्हें कोई दो हजार पुस्तकों से मदद मिली थी। और 'बा' उपन्यास लिखते समय मुश्किल से दो पुस्तकें सामने थीं। वे उन सब लोगों से मिले, जिन्हें कस्तूरबा के बारे में थोड़ी-सी भी जानकारी थी और उन जगहों पर गये, जहां बा ने थोड़ा या बहुत समय बिताया था। इस तरह बनी यह कथा, यह इतिहास बा के अलावा खुद बापू के दो और रूपों को भी सामने रखता है–पति और पिता का रूप। प्रस्तुत है 'बा' का एक अंश, जो बा-बापू : 150 के अवसर पर क्रमशः प्रकाशित हो रहे हैं। –सं.

फीनिक्स सूचना पहुंची तो उत्सव का माहौल हो जाना स्वाभाविक था। ट्रांसवाल में सत्याग्रहियों की जेल से मुक्ति उनकी जीत थी। इस बात से फीनिक्स आश्रम में भी सब खुश थे। कस्तूरबा इस बात से प्रसन्न थी कि अब मोहनदास घर आ सकेंगे। भले ही कुछ दिन के लिए ही आयें। वह सबको हंसकर बता रही थी कि अब उनकी रिहाई ने उसे भी मक्का के अलोने रातिब से मुक्ति दिला दी। गुलाब की सहायता से कस्तूरबा ने पड़ोसियों के और घर भर के लिए एक बड़े रात्रि भोज का आयोजन किया। लेकिन वह खुशियां चंद रोजा थीं। लगभग दसवें दिन तार मिला कि गांधी भाई के दफ्तर में ही उनके ऊपर हमला किया गया, यहां तक कि वे बेहोश हो गये। इसके अलावा तार में कोई और सूचना नहीं थी, कहां चोट आयी, किसने और क्यों मारा। सब चकित और चिन्तित थे। कस्तूरबा पागल-सी हो गयी थी। किसी ने जोहान्सबर्ग जाने की सलाह दी कि इस समय तुम्हें अपने पति के पास होना चाहिए।

'नहीं, नहीं, मैं नहीं जा सकती' वह तुरंत बोली, 'इस समय फीनिक्स आश्रम के पास पैसे की कमी है। जो थोड़ा बहुत पैसा बचा है, उसे अपने ऊपर खर्च नहीं कर सकती। आश्रम की जरूरतें पति के पास जाने से ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं।'

एलबर्ट ने समझाना चाहा, 'हमलोग संभाल लेंगे, आप चली जाइए।'

कस्तूरबा अपनी बात पर दृढ़ थी, 'वहां उनके बहुत सारे मित्र हैं, वे अच्छी तरह देखभाल कर रहे होंगे। मेरे पति भी पसंद नहीं करेंगे, वे सदा जनता के पैसे को उन्हीं पर खर्च करने के पक्ष में रहे हैं।'

जब गांधी भाई के बारे में पोलक का एक लंबा पत्र आ गया तो कस्तूरबा और बच्चों को राहत मिली। उसने लिखा था कि मोहन भाई स्वस्थ हैं। न हड्डी टूटी है, न कोई गहरी चोट लगी है। कुछ खरोंचें हैं, हल्के जख्म और गुम चोटें आयी हैं। अब ठीक हो रही हैं। कस्तूरबा को सबसे बड़ी चिन्ता यही थी कहीं डरबन की तरह गोरे दंगाइयों ने हमला न किया हो। पत्र में यह भी लिखा था, एक हमवतन मीर आलम द्वारा स्मट्स के साथ हुए समझौते के बारे में गलतफहमी के कारण ऐसा हुआ। वह समझा था कि मि. गांधी ने पैसा लेकर पूरे समुदाय का हित स्मट्स के हाथ बेच दिया। कस्तूरबा के लिए ऐसा गंदा आरोप अनर्गल और अस्वीकार्य था। लेकिन उसने अपने गुस्से को अलग रखकर इस बात पर ध्यान देना आवश्यक समझा कि पति स्वास्थ्य लाभ कर रहे हैं। ऐसे में स्वजनों का सकारात्मक सोच भी दवा और दुआ का काम करता है। पत्र से यह भी पता चला था कि मि. गांधी पादरी मि. जोजेफ डोक के घर पर रहकर स्वास्थ्य लाभ कर रहे हैं। कस्तूरबा ने मन ही मन डोक परिवार का हृदय से आभार व्यक्त किया। जब मि. गांधी से पुलिस ने शिकायत दर्ज कराने को कहा तो उन्होंने उसके खिलाफ कुछ भी कहने से मना कर दिया था। वे इस बात पर बज़िद थे कि उनका सबसे पहले पंजीकरण होना चाहिए। एशियाटिक पंजीकरण अधिकारी को बुलाकर अपना पंजीकरण कराया। बाद में मिली और पोलक उन्हें अपने घर ले जाना चाहते थे पर डोक परिवार में उनकी अच्छी देख-भाल हो रही थी। हालांकि रेवरेन डोक के अनुयायियों में बहुत असंतोष था कि एक अपवित्र काले व्यक्ति की सेवा-शुश्रूषा उनके घर में हो रही है। डोक हर धर्म के लोगों को उनकी मिजाजपुर्सी के लिए आने देते थे। यह भी अनुयायियों को अच्छा नहीं लगता था।

मोहनदास डरबन आ गये थे। वे अफवाहों पर ध्यान नहीं दे रहे थे। उन्हें लग रहा था, उनकी ही कहीं कोई कमी है कि वे अपने विरोधियों का विश्वास जीत नहीं पाये। उन्होंने डरबन में रहने का मित्रों का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। मोहनदास ने फीनिक्स में रहकर जोहान्सबर्ग में घटी घटना का इंडियन ओपिनियन में ब्यौरेवार लेखों की श्रृंखला लिखने का मन बना लिया था। वे सत्य सबके सामने लाना चाहते थे। फीनिक्स जाने के निश्चय के बाद चार लोग उनकी सुरक्षा के लिए साथ जाने के लिए तैयार थे। उनमें एक तमिल बाक्सर था। लेकिन मोहनदास इसके लिए तैयार नहीं थे। उनका कहना था कोई भी जीवन में डरकर नहीं रह सकता।

कस्तूरबा ने जब सुना तो कहा, 'मैं जानती हूं, तुम हर अंजाम के लिए तैयार हो। जब से सामाजिक जीवन में आये हो, मैंने भी अपने आपको हर स्थिति के लिए तैयार कर लिया है।' एक क्षण के लिए अपने पति के चेहरे को पढ़ने की कोशिश की फिर बोली, 'तुम मेरी और बच्चों की चिन्ता मत करो, मैं तुम्हें यही कहना चाहती हूं।' कस्तूरबा ने यह बात दिल से कही थी। सुनकर मोहनदास के चेहरे पर सहजता आ गयी। उनकी नजरों में आभार और प्रशंसा का भाव था जिसे कस्तूरबा ने पहचाना।

अकेले में कस्तूरबा की आंखों से बहते आंसू किसी ने नहीं देखे थे। उसके चेहरे पर संघर्ष और सहनशीलता ही नजर आते थे।

सत्याग्रह के आरम्भिक दिनों में जीवन जीने का एक तरीका बन गया था। लेकिन सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन में घटनाएं इतनी तेजी से घट रही थीं, संघर्ष आकस्मिक रूप से सामने साक्षात आ खड़ा होता था। कस्तूरबा को लगता था सब परस्पर विपरीत भावनाओं के भंवर में फंसे हैं। भय, उत्तेजना और मुक्ति पहिए की तरह घूम रहे हैं।

...क्रमशः अगले अंक में

5 जून संपूर्ण क्रांति दिवस : संगोष्ठी सम्पन्न

सर्व सेवा संघ (साधना केन्द्र), राजघाट, वाराणसी में संपूर्ण क्रांति दिवस 5 जून को सर्व सेवा संघ द्वारा आयोजित संगोष्ठी सम्पन्न हुई।

संगोष्ठी का शुभारम्भ 1974 आंदोलन में जेपी की सभाओं में क्रांति गीत गाने वाले संप्रति सर्वोदय जगत के संपादक अशोक मोती के 'संपूर्ण क्रांति अब नारा है, भावी इतिहास हमारा है' क्रांति गीत से हुआ।

संगोष्ठी के दौरान वर्धा जिला सर्वोदय मंडल के अध्यक्ष प्रशांत गुजर ने कई क्रांति गीत गाये।

मुख्य अतिथि के रूप में पूर्व सांसद और गांधीवीर डॉ. रामजी सिंह उपस्थित थे, जिन्होंने अपने संबोधन में कहा कि जयप्रकाश जी संपूर्ण क्रांति के माध्यम से समाज में आमूलचूल परिवर्तन करना चाहते थे, जिसमें कमजोर वर्ग को विकास करने का अवसर हो। डॉ. सिंह ने दुःख व्यक्त किया कि आज ठीक उसका उलटा हो रहा है।

विशिष्ट अतिथि आजमगढ़ के 101 वर्षीय स्वतंत्रता सेनानी श्री मेवालाल गोस्वामी ने अनेक संस्मरण सुनाते हुए कहा कि गांधी, विनोबा, जयप्रकाश हमेशा हमारे मार्गदर्शन करते रहेंगे। उनके बताये रास्ते से ही देश आगे बढ़ सकता है। यह मेरी स्पष्ट धारणा है।

सर्व सेवा संघ के अध्यक्ष श्री महादेव विद्रोही ने 1974 आंदोलन के सेनानियों का स्वागत करते हुए कहा कि आज देश में पहले से अधिक बेरोजगारी है, महिलाओं का उत्पीड़न है, दलितों व अल्पसंख्यकों को अपमानित होना पड़ रहा है। उन्होंने उदाहरण देते हुए इस बात पर दुःख व्यक्त किया कि कुछ ही दिन पहले भारत के महामहिम राष्ट्रपति को भी राजस्थान के एक मंदिर में पूजा-अर्चना करने से मना कर दिया गया।

सर्व सेवा संघ प्रकाशन के संयोजक श्री अरविन्द अंजुम ने विषय प्रवेश कराते हुए कहा कि आज लोकतांत्रिक संस्थाओं को कमजोर किया जा रहा है। कृषि, शिक्षा में कम बजट और रक्षा में अधिक बजट सरकार के विकास की प्राथमिकता को बताता है।

सर्व सेवा संघ के महामंत्री श्री शेख हुसेन ने देश में व्याप्त विषमता का उल्लेख करते हुए कहा कि अंग्रेजों के जमाने में गरीब और अमीर में 5 हजार गुना का अंतर था, लेकिन आज आजादी के बाद यह अंतर 10 लाख गुना हो गया है।

संगोष्ठी में देशभर से लगभग 100 गांधी-विनोबा-जेपी के अनुयायियों ने भाग लिया, जिनमें प्रमुख रूप से सर्व सेवा संघ प्रकाशन के पूर्व संयोजक रामधीरज, बनवासी सेवा आश्रम, सोनभद्र की शुभा प्रेम, सेवाग्राम आश्रम प्रतिष्ठान के अध्यक्ष एवं सर्व सेवा संघ के प्रबंधक ट्रस्टी टी.आर. एन. प्रभु, सर्व सेवा संघ के मंत्री चंदन पाल, बिहार सर्वोदय मंडल के अध्यक्ष कालिका सिंह, चंद्रभूषण एवं विनोद रंजन, प्रभाकर-पटना, दिनेश चन्द्र-छपरा, सर्व सेवा संघ परिसर, वाराणसी के संयोजक विजय कुमार सहित डॉ. आरिफ खान, प्रो. आनन्द किशोर, मिथिलेश दूबे, ओमप्रकाश अरुण, आफताब अंजुम, मुनीजा खान, आरती देवी, खुशबू सिंह, शमा परवीन, सविता कुमारी, विमला श्रीवास्तव आदि की उपस्थिति रही।

संगोष्ठी की अध्यक्षता उत्तर प्रदेश सर्वोदय मंडल के अध्यक्ष डॉ. मधुसूदन भाई तथा संचालन सर्व सेवा संघ के मंत्री श्री रमेश पंकज ने किया।

धन्यवाद ज्ञापन करते हुए सर्व सेवा संघ परिसर के संयोजक विजय भाई ने संगोष्ठी मे सहभाग कर रहे सभी अतिथियो के प्रति आभार प्रकट किया।

'जयप्रकाश का बिगुल बजा तो जाग उठी तरुणाई है, तिलक लगाने तुम्हें जवानों क्रांति द्वार पर आयी है' सामूहिक क्रांति गीत के साथ संगोष्ठी का समापन की घोषणा हुई।

–स.ज. प्रतिनिधि

अन्नपूर्णा अनु की दो कविताएं

एक

यदि तुम मां हो एक बेटी की
तो सुनो! अपनी बेटियों को भगवान
के भरोसे मत छोड़ना
वह देखता रहेगा दरिंदगी को
सुनता रहेगा चीखों को
पर कुछ बोलेगा नहीं
ना कोई तूफान आयेगा
ना बिजली कड़केगी
ना घंटियों से कोई शोर होगा
वो नोचते रहेंगे,
चिथड़े चिथड़े कर देंगे
बच्ची का, और मार डालेंगे
पत्थरों पर पटककर
और तुम्हारा भगवान भी
मौन होकर उसमें शामिल हो जायेगा।
अपने बेटियों को
कानून के भरोसे भी मत छोड़ना
वह वर्दी पहनकर
निकलेगा अपराधियों को
पकड़ने के लिए
परंतु उसकी हवस भी
जाग उठेगी, वह बोलेगा कि
रुको मुझे भी पहले
कर लेने दो, उसके बाद वह भी
उसके शरीर के चिथड़े
को नोच डालेगा।

अपनी बेटियों को समाजके
भरोसे भी मत छोड़ना
इसी समाज से ही निकलते हैं
दरिंदे बच्चियों को नोचने वाले
और यह समाज बेटियों
को ही दोषी बता देगा
कि उसने ही भड़काया होगा।

सुनो अपनी बेटियों को
सरकार के भरोसे भी
मत छोड़ना वह मरवा देगा उस
बच्ची के बाप को
जिसने भी शिकायत की है
उसके अनुयायियों के खिलाफ
और अपने लोगों को बचा लेगा।

अपनी बेटियों को न्याय के
भरोसे भी मत छोड़ना
वहां बार-बार बलात्कार
होगा उसका और उसके
बाद भी वह दोषियों
को यह बोलकर छोड़ देगा
कि वो अछूत थी इसलिए
कोई उसे छू नहीं सकता
फिर बलात्कार कैसे करेगा?

और सुनो! अपनी बेटियों
को धर्म के भरोसे भी मत छोड़ना
वह बोलेंगे कि मुस्लिम ने
बलात्कार किया है तो
हिन्दू भी करेगा।

बस अब और अत्याचार
नहीं सहना है, तुम मां हो एक बेटी की
तो तुम्हें कायर बन
कर चुप नहीं रहना है
एक रास्ता है, हथियार उठा लो और
तैयार हो जाओ अपनी
बेटियों की रक्षा के लिए
तन जाओ दरिंदों के सीने पर
और बता दो कि तुम यदि बलात्कार
से अपनी हवस मिटाओगे
तो हम तुम्हारे खून से
अपनी प्यास बुझायेंगे।

दो

कभी देवी बनाकर पूजते हो
कभी बेची जाती बाजारों में
तुम क्या जानो कितना दर्द
छुपा है मेरे इन किरदारों में।

कभी भुजा उखाड़ डालते हो
कभी भ्रूण में मार डालते हो
मैं जब भी मुखरित होना चाहूं
तो मुझपे पहरे हजार डालते हो।
कौन-कौन सी बातों की गिनती
करूं मैं तुम्हारे अत्याचारों में।

तुम क्या जानो...

नजरें कभी जो उठती हैं मेरी
तो आंख दिखाये जाते हैं,
नियत बुरी होती हैं मर्दों की और
मुझे संस्कार सिखाये जाते हैं।
कौन बचाये लाज मेरी, मेरी तो
अस्मत लूटती है पहरेदारों में।

तुम क्या जानो...

मां बहन बेटी दादी नानी बन
जो सबके घर में रहती है,
पुरुषों के झगड़े में फिर क्यों
वो हर रोज गालियां सहती है।
क्यों बेवजह घसीटते रहते हो
मुझे नफरत के बाजारों में।

तुम क्या जानो...

कभी डायन कहकर जूझते हो,
कभी संपत्ति अपनी बूझते हो।
ये ढोंग दिखावास बंद करो अब
क्यों स्वार्थवश मुझे पूजते हो।
मेरा सच्चा अधिकार दो बस
शुचिता लाओ अपने व्यवहारों में।

तुम क्या जानो कितना दर्द
छुपा है मेरे इन किरदारों में। ❑

सर्व सेवा संघ (स्वत्वाधिकारी) के लिए महामंत्री, शेख हुसैन द्वारा सर्व सेवा संघ परिसर, राजघाट, वाराणसी (उ.प्र.) 221001 से प्रकाशित तथा महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी से मुद्रित। संपादक : अशोक मोती।